श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

(७६)

समयसार-दृष्टान्तमर्म

लेखक:—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानद" महाराज

संपादक:—

महावीरप्रसाद जैन बैंकर्स सदर मेरठ ।

प्रकाशक:—

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५, ए रणजीतपुरी, सदर मेरठ ।
उ० प्र०

सन्
१९६०

न्योछावर
।।=)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्री मान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ

(२) श्रीमती फूलमाला जी धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर, मेरठ

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावलि:-

(१) श्री भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(४) श्रीमती सोवती देवी जी जैन गिरिडीह
(५) श्री ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन; प्रेमपुरी मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस देहरादून
(९) ,, ला० वारूमल प्रेमचन्द जी जैन मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगड़ू शाह जी जैन सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी नई मंडी मुजफ्फरनगर
(१४) श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन देहरादून
(१५) श्रीमान ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन आ०. मजि० सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर इटावा।
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी जयपुर

(२०) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन जियागंज

(२१) ,, मन्त्राणी जैन महिला समाज गया

(२२) श्रीमान सेठ सागरमल जी पाण्ड्या गिरिडीह

(२३) ,, बा० गिरनारी लाल चिरंजीलाल जी गिरिडीह

(२४) ,, बा० राधेलाल कालूराम जी गिरिडीह

(२५) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मन्डी मुजफ्फरनगर.

(२६) सेठ छदामीलाल जी जैन फिरोजाबाद

(२७) ,, ला० सुखवीर सिंह हेमचन्द जी सर्राफ बडौत

(२८) ,, सेठ गजानन्द गुलाब चन्द जी जैन गया

(३०) ,, बा० जीतमर्ल शान्ति कुमार जी छाबडा झूमरीतिलैया

* (३१) ,, सेठ शीतल प्रसाद जी जैन सदर मेरठ

* (३२) ,, सेठ मोहन लाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या [illegible] पुर

* (३३) ,, बा० दयाराम जी जैन R. S. D. O. सदर मेरठ

* (३४) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन सदर मेरठ

* (३५) ,, ला० नेजिनेश्वर प्रसाद अभिनन्दन कुमार जी जैन सहारनपुर

* (३६) ,, ला०चमिचन्द जी जैन रुड़की प्रेस रुड़की

× (३७) ,, ला० जिनेश्वर लाल श्रीपाल जी जैन शिमला

× (३८) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन शिमला

नोट— जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावो की स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये है बाकी आने है तथा जिनके नाम के पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नही आये, आने है। श्रीमती बल्लोबाई जी ध० प० सि० रतनचन्द जी जैन जबलपुर ने संरक्षक सदस्यता स्वीकार की है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

(१)

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥

(२)

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

(३)

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुप दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान

(४)

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहूँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

(५)

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, "सहजानन्द" रहूँ "अभिराम" ॥

॥ अहिंसा धर्म की जय ॥

॥ ॐ ॥

समयसार-दृष्टान्तमर्म

१—समय या समयसार आत्माका नाम है। यह आत्मा प्रतिक्षण अपनी परिणति करता रहता है। जगतके जीव परिणतियोंको निज सर्वस्व समझते हैं किन्तु उन्हें अपने एकपनेकी खबर नहीं है जो सब परिणतियोंमें रहता है। सब द्रव्योंका अपना अपना एकत्व (स्वभाव) टङ्कोत्कीर्ण प्रतिविम्बवत् निश्चल है। आत्माका भी चैतन्यस्वभाव टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल है। जैसे टांकीसे उकेरी गई प्रतिमा मुड़ नहीं सकती, परिवर्तित हो नहीं सकती, इसी प्रकार आत्माका स्वभाव वदल नहीं सकता; आत्मा एक चैतन्य स्वभाव है, वह सनातन है।

२—इस समयसारस्वरूप निज सहज कारणपरमात्माकी अनुभूतिके विना जगतके जीव ऐसे परिभ्रमण करते हैं जैसे कोल्हूका वैल। कोल्हूके वैलकी आंखोंपर पट्टी वंधी है जिससे उसे सूझता नहीं है सो वह वैल तेलीकी प्रेरणाके निमित्तसे कोल्हूके घेर फेर गोल गोल चक्कर काटता है, किन्तु वह यह नहीं समझता कि मैं वहीं के वहीं वार वार चल रहा हूं बल्कि वह मानता है कि मैं सीधा ही नया नया गमन कर रहा हूँ। वैसे जगतके प्राणियोंकी ज्ञानचक्षुपर मोह-अज्ञानकी पट्टी वंधी है जिससे उसे शान्ति सत्यपथ सूझता नहीं है सो वह मोही कर्मविपाकके निमित्तसे पञ्चेन्द्रियके विषयोंके घेर फेर वार वार चक्कर काटता है किन्तु वह यह नहीं समझता कि मैं उच्छिष्टको ही वार वार भोग रहा हूँ, वल्कि वह मानता है कि मैं सीधा ही नया नया विलक्षण कार्य कर रहा हूँ। यह मोहकी लीला है।

३—परमशुद्धनिश्चयनयसे परिचयमें आया हुआ आत्मा शुद्ध आत्मा है। सर्व पर, परभाव, विकल्प, भेदोंसे भिन्न केवल स्वरूप वाला शुद्ध आत्मा है। इसे दाह्य (जलते हुए ईंधन) में रहनेवाले अग्निकी तरह अशुद्ध न मानना अर्थात् जैसे केवल अग्नि कहाँ रह सकती है? अग्नि तो जिसे जला रही है उस दाह्यके आधारमें आकारमें रहती है, इस तरह

अग्नि दाह्यमें रहनेके कारण अशुद्ध है, भिन्न व स्वतन्त्र नहीं है। वैसे "केवल ज्ञान निराधार कैसे होगा ? ज्ञान तो जिसे जान रहा है उस ज्ञेयके आधारमें, आकार में रहता है; इस तरह ज्ञान ज्ञेयमें रहनेके कारण अशुद्ध है, भिन्न व स्वतन्त्र नहीं है" ऐसी अशुद्धता आत्मामें नहीं समझना। क्योंकि, ज्ञायकरूपसे जाना गया यह आत्मा खुद ही खुदको जानता है, वह ज्ञान ज्ञेयमें नहीं रहता, इसलिये ज्ञान या ज्ञानमय आत्मा सर्व परसे भिन्न होनेसे शुद्ध है।

४—ज्ञायक आत्मा ज्ञेयसे भिन्न है। जैसे-दीपक खुद खुदको प्रकाशित करता है; यद्यपि स्वयं प्रकाशमान दीपकके द्वारा घट पटादि पदार्थ प्रकाश्य हो जाते हैं तथापि दीपक घट पटादि पदार्थोंमें नहीं रहता है घट पटादि पदार्थोंसे दीपक भिन्न है। वैसे-आत्मा खुद खुदको प्रतिभासता है। यद्यपि स्वयं प्रतिभासमान ज्ञान या ज्ञायक आत्माके द्वारा बाह्य पदार्थ ज्ञेय हो जाते हैं तथापि ज्ञान या ज्ञायक आत्मा बाह्य ज्ञेय पदार्थोंमें नहीं रहता है। ज्ञेय बाह्य पदार्थोंसे आत्मा भिन्न है, वह पर ज्ञेय पदार्थोंको कुछ नहीं करता। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक पदार्थोंमें स्वयं स्वयंमें ही कर्ताकर्मपना होता है।

५—द्रव्यदृष्टिसे विज्ञात शुद्ध आत्मा परमार्थ है, यही ध्येय है और यही वक्तव्य है तथापि जिन्हें परमार्थका परिचय नहीं है उन्हें समझानेका उपाय व्यवहार ही है। जैसे-मात्र अंग्रेजी जाननेवाले राजाके पास जाकर कोई संस्कृतज्ञ पंडित 'स्वस्ति' ऐसा आशीर्वाद कहे तो वह राजा उस शब्दका अर्थ नहीं जाननेसे मेंढेकी तरह आंखकी टकटकी लगाकर पंडितकी ओर देखता रहता है। क्योंकि पंडितकी मुखमुद्रासे वह यह तो जान गया कि कुछ अच्छी बात जरूर कही है किन्तु क्या कही यह नहीं समझा। जब अंग्रेजी व संस्कृत दोनों भाषाओंका जानकार वही पंडित या अन्य विद्वान जब 'स्वस्ति' का भाव अंग्रेजी भाषामें अनुवादित करके कहता है कि 'may be blessed' तब वह राजा बड़ा प्रमुदित होता हुआ इस तथ्यको समझ जाता है। वैसे मात्र भेद पर्यायरूप ही

अपना परिचय रखने वाले प्राणीसे कोई महात्मा गुरु 'आत्मा' इस शब्द द्वारा परमार्थको कहे तो वह प्राणी उस शब्दका भाव न जाननेसे मेढेकी तरह आंखकी टकटकी लगाकर गुरुकी ओर देखता रहता है, क्योंकि गुरुकी मुद्रा व देशनाविधिसे वह यह तो समझ गया कि कोई मेरे भलेकी ही यह बात बताई जा रही है। इसीसे वह प्रेमसे गुरुकी ओर देखता रहता है किन्तु क्या कहा यह बात नहीं जानता। जब व्यवहार और परमार्थके जानकार वे गुरु व्यवहारनयसे समझाते हैं कि जो देखता है जानता है वह आत्मा है आदि, तब यह जीव बड़ा आनंदित होता हुआ निज तथ्यको समझ जाता है। इस तरह व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक होनेसे उसकी भी कभी आवश्यकता है।

६—व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक है जैसे-परमार्थसे घटज्ञानी कौन है? जैसा घट है उस तरहके जाननेसे परिणत जो आत्मा है वह परमार्थसे घटज्ञानी है; यहाँ आत्माने अपनेको ही जाना, यह मर्म जिनकी समझमें नहीं है उन्हें समझानेके लिये यह कहना पड़ता है कि जो घटको जानता है वह घटज्ञानी है। तथा परमार्थसे श्रुतकेवली कौन है? जैसा द्वादशांगका सर्व विषय है उस तरहके जाननेसे परिणत जो आत्मा है वह परमार्थसे श्रुतकेवली है; यहां आत्माने अपनेको ही जाना, यह मर्म जिनकी समझमें नहीं है उन्हें समझानेके लिये यह कहना पड़ता है कि जो समस्त द्वादशांगको जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहार हुआ। व्यवहार परमार्थका संकेत करता है यह जानकर व्यवहारका प्रयोजन परमार्थकी साधनाका समझें, व्यवहारमें ही न अटकें।

७—व्यवहार अभूतार्थ है निश्चय भूतार्थ है। जो भूतार्थका आश्रय करते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं। जैसे कोई अविवेकी पुरुष कीचड़ मिले हुए बरसाती पुखरियाके जलको (जिसकी कि स्वच्छता तिरोहित हो गई) पीने वाले कीचड़ और पानीका विवेक न करते हुए उस मलीन जलको पी लेते हैं परन्तु विवेकी पुरुष अपने हाथसे डाले हुए कतकफलके निमित्तसे कीचड़ और जलका विवेक हो जानेसे अपनी मूर्तिकी परछाईं द्वारा

स्वच्छताकी परीक्षा करके स्वच्छ जलको पी लेते हैं। वैसे मोही जीव कर्मसे संयुक्त ज्ञायकस्वरूप अपनेको (जिसका कि ज्ञायकस्वभाव तिरोहित हो गया) अनुभव करने वाले आत्मा और भावकर्मका विवेक न होनेसे व्यवहारविमूढ होकर निजको नानारूप अनुभव करने लगते हैं। परन्तु वस्तुस्वभावके समझने वाले अपनी बुद्धिसे प्रयोग किये गये निश्चयनयरूप भूतार्थके आश्रय द्वारा आत्मा और भावकर्मका विवेक हो जानेसे अपने आपके आकारमें प्रकट अपने स्वभावका परिचय करके एक ज्ञायकस्वरूप निजका अनुभवन कर लेते हैं।

८—जिन्होंने परमार्थका परिचय प्राप्त किया उन्हें व्यवहारसे प्रयोजन नहीं है। किन्तु जो अपरमार्थमें ठहरे हैं उन्हें व्यवहार प्रयोजनवान है। जैसे-जो आखिरी तावसे तचे हुए शुद्ध स्वर्णसे परिचित हैं उन्हें अशुद्ध स्वर्णमें आदर व प्रयोजन नहीं है किन्तु जिन्हें शुद्ध स्वर्णका परिचय नहीं है उन्हें अशुद्ध स्वर्णमें आदर व प्रयोजन है। वैसे जो निज परमपारिणामिकभावसे परिचित हैं उन्हें पर्याय, भेद आदि व्यवहारमें आदर व प्रयोजन नहीं है। किन्तु जो विकल्परूप अपरमार्थ भावमें ठहरे हैं परमार्थसे परिचित नहीं है उन्हें व्यवहारमें आदर व प्रयोजन भी है। परमार्थमें पहुँचनेपर व्यवहारमें आदर व प्रयोजन नहीं रहता।

९—आत्मा सामान्यविशेषात्मक है। सामान्य अंश ध्रुव होनेसे परमार्थ है और विशेष अंश अध्रुव होनेसे अपरमार्थ है। परमार्थ दृष्टिसे आत्मा अबद्ध (किसीसे न बंधा हुआ), अस्पृष्ट (किसीसे न छुआ हुआ), अनन्य (अन्य नहीं किन्तु वही वही), अविशेष (गुण भेद रहित), नियत, असंयुक्त (नैमित्तिक विभावसे रहित) है। किन्तु अपरमार्थ दृष्टिसे आत्मा बद्ध, स्पृष्ट, अन्य, विशेष अनियत व संयुक्त भी है। ध्रुव, एकको देखना सामान्यदृष्टि है। अध्रुव, अनेकको देखना विशेषदृष्टि है। जैसे-कमलिनीका पत्र तालावमें डूबा है उसे जल व पत्रकी संयोगदृष्टिसे देखें तो पत्र जलसे बद्ध व स्पृष्ट है। यदि केवल पत्रको या पत्रके ही स्वभावकी ..त से देखें तो पत्र बद्ध नहीं है और न स्पृष्ट भी है।

१०—सामान्यदृष्टिसे आत्मा अनन्य है, विशेषदृष्टिसे आत्मा अन्य अन्य है। जैसे-एक मिट्टीके ही होने वाले पिण्ड कोश कुशूल घट कपाल को विशेष, पर्यायकी दृष्टिसे देखें तो सब अन्य अन्य हैं किन्तु एक मिट्टीके स्वभावको मुख्य करके देखें तो सब अनन्य हैं एक मिट्टी है। वैसे नर नारक आदि व क्रोध मान आदि पर्याय: विशेषकी दृष्टिसे देखें तो सब अन्य अन्य हैं, किन्तु एक आत्मस्वभावकी मुख्यतासे देखें तो वहाँ सर्वत्र एक विशुद्ध चैतन्य है।

११—सामान्य, परमार्थ दृष्टिसे आत्मा नियत है, विशेष, अपरमार्थ दृष्टिसे आत्मा अनियत है। जैसे-समुद्रको वृद्धि हानि पर्यायकी दृष्टिसे देखा जावे तो समुद्र अनियत है, किन्तु केवल समुद्रपनेकी दृष्टिसे देखा जावे तो समुद्र सदा नियत है। वैसे आत्माको वृद्धि हानि पर्यायसे देखो तो आत्मा कभी कम या अधिक मतिज्ञानी है कभी कम या अधिक श्रुतज्ञानी है कभी कम या अधिक क्रोधी है कभी कम या अधिक शान्त है इत्यादि प्रकारसे आत्मा अनियत है किन्तु सदा व्यवस्थित आत्मस्वभाव की दृष्टिसे देखा जावे तो सदा चैतन्यस्वभावरूप नियत है।

१२—अभेददृष्टिमें आत्मा अविशेष है, भेददृष्टिमें आत्मा विशेषरूप है। जैसे-एक सुवर्णको भी चिकना, वजनदार, पीला आदि भेदोंसे देखा जावे तो सुवर्ण विशेष विशेषरूप है किन्तु अभेददृष्टिसे (जहां कि विशेषकी दृष्टि लुप्त हो गई है) देखा जावे तो वह सर्वत्र एक सुवर्ण ही है। वैसे-एक आत्माको ज्ञान, दर्शन आदि भेदोंसे देखा जावे तब आत्मा ज्ञानरूप, दर्शनरूप आदि विशेष विशेषरूप है किन्तु अभेद-दृष्टिसे (जहां कि समस्त विशेष लुप्त हो गये हैं) देखा जावे तो वह सर्वत्र एक सामान्य आत्मा ही है।

१३—परमार्थ, स्वभावदृष्टिसे आत्मा असंयुक्त, स्वभावमात्र है, अपरमार्थ, संयोगदृष्टिसे आत्मा संयुक्त, परभावरूप है। जैसे अग्निके संयोगके निमित्तसे होने वाली उष्णपर्यायके सम्बन्धकी दृष्टिसे देखा जावे तो जलमें संयुक्तता है, किन्तु केवल जलके शीतस्वभावकी दृष्टिसे

देखा जावे तो वह संयुक्तता नहीं है स्वभावरूप है। वैसे कर्मविपाकके निमित्तसे होने वाले मोहके सम्बन्धकी दृष्टिसे देखा जावे आत्मामें संयुक्तता है, कुछ मिला है, किन्तु केवल परमार्थ आत्मस्वभाव चैतन्यकी दृष्टिसे देखा जावे तो संयुक्तता नहीं है, आत्मा स्वभावमात्र है।

१४—आत्मा परमार्थसे सहज चैतन्यस्वरूप है, सहजज्ञानमात्र है। वह यद्यपि नित्य प्रकट है, तो भी सहजज्ञानकी परिणतिमें जो ज्ञेय होता है उसमें लोभी हो जानेसे मुग्ध जीवोंको निज स्वभावका स्वाद नहीं रहता है। जैसे-नाना प्रकारकी शाकोंमें नमक पड़ा हुआ है, शाकके खानेके समय नमकका भी स्वाद आ रहा है, परन्तु शाकमें आसक्ति होनेसे शाक विशेषपर ही दृष्टि है सो नमकका तिरोभाव होनेसे लोभी शाकविशेपरूपसे नमकको स्वादता है किन्तु नमकका प्रकट स्वाद नहीं ले सकता है। वही पुरुप यदि केवल नमककी डलीका स्वाद ले तो सर्व व्यञ्जनोंकी दृष्टि न होनेसे प्रकट नमकका स्वाद लेता है। वैसे-नाना ज्ञेयोंमें उपयोग आसक्ति होनेसे यद्यपि स्वाद ज्ञानका ही है तथापि ज्ञेयकी ओर दृष्टि होनेसे, विशेपका ही प्रकाश होनेसे ज्ञानका स्वाद मोही जीवको नहीं प्राप्त होता, किन्तु ज्ञेयके स्वादकी कल्पनामें ही वेसुध रहता है। यही जीव यदि सर्वसे भिन्न केवल ज्ञानमात्र आत्माको अनुभवे तो विशेप, विकल्पोंका तिरोभाव हो जानेसे अनासक्त उदासीन उस ज्ञानीको प्रकट आत्माका अनुभव, स्वाद आता है।

१५—ज्ञानीको जिसका अनुभव होता है वह दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक एक निज आत्मा है। आत्माके दर्शन (श्रद्धान) ज्ञान, चारित्र भिन्न नहीं है। जैसे किसी देवदत्तनामके पुरुपका जो श्रद्धान ज्ञान आचरण है वह सब देवदत्तसे भिन्न किसी अन्य पुरुप या जड़में नहीं है क्योंकि वे देवदत्तके स्वभाव हैं इसी तरह आत्माके दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मासे भिन्न नहीं हैं। दर्शन ज्ञान चारित्रकी उपासना करो ऐसा भेदरूप उपदेश है, वास्तवमें यह अखण्ड निज एक आत्मा ही उपास्य है।

१६—इस निज अखण्ड आत्माकी उपासनासे होनेवाले मोक्षकी

जिन्हें चाह है उनका कर्तव्य है कि पहिले इस निज सत ज्ञायक स्वरूप आत्माको जानें और श्रद्धान करें और उस ही के अनुरूप आचरण करें जैसे कि जो कोई पुरुष धनलाभकी चाह करे तो वह सबसे पहिले राजा को जानता है और उसका विश्वास करता है तथा फिर उस राजाके अनुकूल प्रवृत्ति करता है इस उपायसे उसे धनलाभ हो जाता है।

१७—यह आत्मोपलब्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक यह जीव अज्ञानी है। जैसे-घड़ेके रूप रस गंध स्पर्शमें तथा घड़ेके आकार यह घड़ा है और घड़ेमें रूपादि भाव व आकार है इस तरह घड़ेमें और रूपादिभाव व आकारमें उस वस्तुके अभेदरूप याने एकमेक अनुभव होता है, इस तरह यदि कोई आत्मा मोहादिक भावमे और शरीरमें यह मैं आत्मा हूं और मुझ आत्मामे मोहादि व शरीर है ऐसा आत्माके अभेदरूप अनुभव करे तो वह अज्ञानी है, क्योंकि स्वभाव और परभावको एकत्वरूप अभिप्राय अज्ञान है।

१८—जैसे-दर्पणका स्वरूप तो ऐसी स्वच्छता ही है जिसके कारण उसमें स्व परके आकारका प्रतिभास होता है और यदि उस दर्पणमे अग्निका प्रतिबिम्ब हो रहा है तो वहां अग्निका कुछ नहीं है अग्निका स्वरूप उष्णता व ज्वाला है सो उष्णता व ज्वाला अग्निमें ही है दर्पणमें नहीं है। वैसे जब इस आत्माके ऐसा भेदविज्ञान प्रकट होता है कि "मुझ अमूर्त आत्माका स्वरूप तो स्व परको जाननेवाला जाननपन ही है और कर्म नोकर्म पुद्गलोंका स्वरूप याने पर्याय है" और इस भेद विज्ञानके अनंतर अभेद अद्वैत निज आत्माका अनुभव होता है तभी यह ज्ञानी हो जायगा।

१९—जैसे "अग्नि इंधन है, इंधन अग्नि है, अग्निका इंधन है, इंधनकी अग्नि है, अग्निका इंधन था, इंधनकी अग्नि थी, अग्निका इंधन होगा, इंधनकी अग्नि होगी" इस प्रकार अग्नि व इंधन जुदे होनेपर भी जब तक इंधनमें अग्निकी असद्भूतकल्पना है तब तक वह अज्ञानी है और जब "अग्नि इंधन नहीं है, इंधन अग्नि नहीं है, अग्नि अग्नि

है, इंधन इंधन है" ऐसा अग्निमें ही अग्निका ज्ञान करे तब वह उस विषयका ज्ञानी कहा जाता है। (इसी तरह भूत भविष्यके भी उदाहरण लगा लेना)। वैसे-"मैं यह हूं, यह मैं है, मेरा यह है, इसका मैं हूँ, मेरा यह पहिले था, इसका मैं पहिले था, मेरा यह आगे होगा, इसका मैं आगे होऊंगा" इस प्रकार परपदार्थ और आत्मा जुदा होनेपर भी जब तक परपदार्थमें आत्माकी असद्भूत कल्पना है तब तक वह अज्ञानी है और जब तक "मैं यह नहीं हूं, यह मैं नहीं है, मैं मैं हूँ, यह यही है, मेरा यह नहीं था, इसका मैं नहीं था, मेरा मैं ही था, इसका यह ही था, मेरा यह नहीं होगा, इसका मैं नहीं होऊगा, मेरा मैं ही होऊंगा, इसका यह ही होगा" ऐसा निज आत्मामें ही आत्माका यथार्थ ज्ञान करे तब वह ज्ञानी हो जावेगा। हे आत्मन्! पर पर ही है उसका मोह छोडो।

२०—जैसे एक स्फटिक पाषाण स्वच्छ है तथापि उसके समक्ष यदि नाना प्रकारके रंग वाले उपाधिभूत पदार्थ समक्ष हों तो स्फटिकमें नाना प्रतिबिम्ब हो जाते हैं। ये विचित्र प्रतिबिम्ब वास्तवमें स्फटिकके स्वभाव तो हैं नहीं, तो भी जो अविवेकी इन्हें स्फटिकके स्वभावभाव ही मान बैठे तो वह अज्ञानी है। तथैव यह आत्मा स्वभावसे तो स्वस्वरूप स्वच्छ है तथापि जब तक नाना कर्मोदयकी उपाधिका निमित्त है तब तक इस आत्मामें नाना विकार होते हैं, वे विकार आत्माके स्वभाव भाव नहीं है, तो भी जो इन्हें स्वभावभाव स्वीकार करता है, पुद्गल द्रव्य मेरा है ऐसा अनुभव करता है तब तक वह अज्ञानी है।

२१—हे आत्मन् तू ज्ञानमय है ज्ञानका ही स्वाद लेता है, ज्ञेयको जानकर ऐसा भ्रमसे क्यों मानन करता है कि विषयका स्वाद लेता हूं जैसे कि कोई हाथी अविवेकसे घास और हलुवाको मिलाकर ही खाता है वह हलुवाका स्वाद पृथक्से लेना समझता ही नहीं।

२२—हे आत्मन्! जैसे नमकका जल और जलका नमक बन जाता है क्योंकि क्षारपना दोनों दशावोंमें रहता है। वैसे यह नहीं समझ कि पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य बन जावे और जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य बन

जाय क्योंकि जीव और पुद्गल दोनोंका लक्षण भिन्न भिन्न है जीवका लक्षण उपयोग है और पुद्गल सदा उपयोगरहित ही रहता है।

२३—जैसे प्रकाश अंधकारका सदा विरोध है जहां प्रकाश है वहां अधकार नहीं है और जहां अंधकार है वहां प्रकाश नहीं। वैसे उपयोग और अनुपयोगका सदा विरोध है जहां उपयोग है वहां अनुपयोग नहीं और जहां अनुपयोग है वहां उपयोग नहीं। उपयोग जीवमे ही है पुद्गलमें अनुपयोग ही है। इसलिये हे आत्मन् विवेक करो अपनेको ही मेरा यह है ऐसा अनुभव कर।

२४—तात्त्विक वातपर आश्चर्य करके अज्ञानी प्रश्न करता है कि मैं तो यह समझता हूँ कि जो आत्मा है वही शरीर पुद्गल द्रव्य है पृथक् कुछ नहीं, यदि ऐसा न हो तो ये स्तुतियां सव मिथ्या हो जावेंगी कि हे भगवन् तुमने अपनी क्रांतिसे दशों दिशावोंको स्नान करा दिया, तेजके द्वारा वड़े वड़े तेजास्वियोंके तेजको रोक दिया, रूपके द्वारा मनुष्यो के मनको हर लिया, दिव्यध्वनिसे कानोमें अमृत वरसाया। इसके उत्तरमें ज्ञानी कहते हैं कि जिस प्रकार सोना और चांदी मिलकर एक पिण्ड हो जावें तो भी सोना सोनेमें है चांदी चांदीमे है एकमेक नहीं हो गये, क्योंकि सोनेका स्वभाव पीला है चाँदीका स्वभाव सफेद है लक्षण जुदे जुदे हैं। मात्र एकका व्यवहार है उसी प्रकार आत्मा और शरीरका परस्पर एकक्षेत्रावगाह है तो भी शरीर शरीरमें है आत्मा आत्मामें है दोनो एक नहीं हो जाते, क्योंकि दोनोंका स्वभाव जुदा है आत्माका स्वभाव उपयोग है और पुद्गल शरीरका स्वभाव अनुपयोग है। अव रह गई स्तुतिकी वात सो मात्र यह व्यवहारकी वात है जो शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुतिका यत्न किया।

२५—जिस प्रकार चांदीका गुण तो सफेद है और सोनेका गुण पीलापन है सोनेमें सफेदीका स्वभाव नहीं है फिर भी चाँदी सोनेका एक स्कन्ध होनेपर ऐसा व्यवहार किया जाता है कि यह सोना सफेद है। उसी प्रकार तीर्थंकरके शरीरका गुण सफेद खून आदि है, आत्माका गुण उपयोग है

सफेद खून होना आत्माका स्वभाव नहीं है फिर भी इस असमानजातीय-पर्यायरूप एक पिण्ड होनेपर यह व्यवहार किया जाता है कि तीर्थंकर-केवलीपुरुष सफेद खून वाले हैं। यह मात्र व्यवहारकी स्तुति है। निश्चय-नयसे शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति नहीं होती। (यहाँ गुण शब्दका अर्थ परिणाम करना)।

२६—जैसे चांदीका गुण जो सफेदीपन है वह सोनेमें नहीं है इसलिये निश्चयसे चाँदीके गुण सफेदीके द्वारा सोनेका व्यपदेश (ज्ञान) नहीं होता, सोनेके गुणसे ही सोनेका व्यपदेश होगा। वैसे शरीरका गुण जो सफेद खून, सुन्दर रूप आदि है वह तीर्थंकरकेवली पुरुषमें नहीं होता इसलिये निश्चयसे तीर्थंकर भगवानके गुणोंसे ही तीर्थंकरकेवलीकी स्तुति होगी शरीरके गुणोंसे तीर्थंकरकी स्तुति नहीं होगी।

२७—यहाँ अज्ञानी प्रश्न करता है कि जब शरीरका अधिष्ठाता आत्मा है तब शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति क्यों न मानी जावे। उत्तरमें ज्ञानी कहते हैं-कि जैसे नगरका अधिष्ठाता राजा है तो भी नगर-का ऐसा वर्णन कर दिया जावे कि इस नगरके बगीचे इतने फैले हुए हैं कि मानो इस नगरने बगीचोंसे सारी भूमि निगल ली, मकान इतने ऊंचे हैं कि मानो मकानोंसे सारे आकाशको खा डाला, खाई इतनी गहरी हैं कि मानो खाईके द्वारा पातालको पी लिया। तो क्या इस नगरके वर्णनसे राजाका वर्णन हो गया? नहीं हुआ। वैसे शरीरका अधिष्ठाता वर्तमानमें आत्मा है तो भी शरीरका कैसा ही उत्तम वर्णन कर दिया जावे कि जिनेन्द्रका रूप महासुन्दर है अक्षोभ है आदि। तो क्या शरीरके इस वर्णनसे आत्माका वर्णन हो गया? नहीं हुआ। क्योंकि तीर्थंकरकेवली यद्यपि इस समय शरीरके अधिष्ठाता है तो भी तीर्थंकरकेवली भगवानके शरीरका कोई भी गुण नहीं है इसलिये शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति नहीं हुई। आत्माकी स्तुतिसे ही आत्माकी स्तुति होती है। जैसे-हे भगवन् आपने ज्ञानस्वभावकी भावनासे इन्द्रियोंको जीतकर जितेन्द्रियता, आप मोहको जीतकर जितमोह हुए और क्षीणमोह हुए आदि।

२८—जब यह जीव आत्मा और परके स्वरूपको यथार्थ जान जाता है सबको अपनेसे भिन्न मान लेता है तो ऐसा ज्ञान ही परपदार्थोंका व परभावोंका त्याग है। जैसे दो पुरुष एक धोबीके अपने अपने चादर धोने डाल आये थे। एक पुरुष पहिले उसके यहांसे चादर उठा लाया, किन्तु वह दूसरे पुरुषकी थी उसे यह पता नहीं था सो उसको अपनी ही चादर समझकर उसे ओढ़कर निर्भय सो गया। अब दूसरा पुरुष चादर उठाने को धोबीके गया तो उसे अपनी चादर न मिली। धोबी जो दे रहा था वह उसकी न थी। तब धोबीने बताया कि आपकी चादर अमुकके यहां पहुंच गई। दूसरा पुरुष पहिले पुरुषके घर गया वहां वह सो रहा था सो चादर का एक छोड़ पकड़कर झटककर दूसरा पुरुष कहने लगा कि भाई जागो जागो, यह चादर आपकी नहीं है मेरी है बदलेमें आ गई है। बार बार ऐसा कहा तब वह जागा और अपनी चादरके जो चिह्न थे, उन्हें देखने लगा। जब उसे अपनी चादरके चिह्न नहीं मिले तो वह उस चादरको उसी समय परकीय समझकर अलग कर देता है। शरीरसे हटाकर देनेमें चाहे विलंब हो जावे भीतरसे तो छूट ही चुकी। यहां देखलो–वास्तवमें ज्ञान ही त्याग है। वैसे ही यह आत्मा भ्रमसे कषायादिक औपाधिक भावोंको ग्रहण करके अपने मानकर अपनी आत्मामें निश्चय करके मोहनींदमे सोता हुआ स्वयं अज्ञानी बना। उसे जब श्री गुरु परभावका विवेक कराके उसे स्वयंके एक रूपका मान कराते हैं, जगाते हैं, हे आत्मन्! जल्दी जागो प्रतिबोध करो यह आत्मा एक चैतन्यमात्र है ये परभाव तेरे स्वभाव नहीं हैं। बार बार हितमय गुरुवाक्य सुनकर उसने समस्त चिन्हांसे भलीभांति परीक्षा की और निश्चित कर लिया कि मैं चैतन्य मात्र हूँ औपाधिकभाव मैं नहीं हूँ ऐसा ज्ञान व श्रद्धान हुआ कि उन सब परभावोंका त्याग हो गया। अब चाहे आत्मभूमिसे उनके हटने में चाहे कुछ विलंब भी लगे तो भी भीतरसे तो छूट ही गया। इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान याने त्याग है।

२९—मैं चैतन्यमात्र हूँ, मोह परभाव है। चैतन्यका और मोहका

स्वाद भिन्न भिन्न है। जैसे दही और शक्कर दोनोंको मिलाकर एक श्रीखंड बना हो उसमे भी स्वादभेदके पहिचानने वाले दही और शक्करके स्वाद भेदको पहिचान जाते हैं। शक्कर दही नहीं है क्योंकि स्वादभेद है। चैतन्यमात्र मैं मोह नहीं हूं, क्योंकि मोहमें और चैतन्यमें स्वादभेद है। इसी प्रकार पुद्गलादि पर द्रव्यरूप और उनके विकल्परूप भी मैं नहीं हूँ।

३०—जिस प्रकार अपने हाथमें कोई सोनेकी चीज लिये हो और भूल जावे तो उसे व्यग्रता होती है, किन्तु उसे ही किसी प्रकार जब ख्याल आ जाता है तब उसे उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है और व्यग्रता भी नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा अनादिकालसे मोहमें उन्मत्त हुआ अपने आपको भूल रहा था उसको जब किसी ज्ञानी गुरुने बार बार समझाया तो जब प्रतिबोधको प्राप्त हुआ तब ही वह अपने आपको परमेश्वरस्वरूप जानकर विश्वास करके और उसके अनुकूल उपयोग रूप आचरण करके अपने आपको चिन्मात्र ज्योतिरूप प्रत्यक्ष प्रतिभासने लगता है।

३१—जिस प्रकार समुद्रके किसी हिस्सेपर पतली चादर आड़े पड़ी हो तो उसमें स्नान करना कठिन है। उसी प्रकार ज्ञानसमुद्रपर भ्रम की चादर पड़ी है तो उस ज्ञानसमुद्रमें मग्न होना कठिन है। जैसे चादर को हटाकर समुद्रमें खूब स्नान किया जा सकता है। वैसे भ्रमको हटाकर ज्ञानसमुद्रमें स्नान किया जा सकता है। हे आत्मन् भ्रमकी चादर हटावो और निःशंक निर्भर ज्ञानसमुद्रमे स्नान करो, ज्ञानमें मग्न होओ।

इति पूर्वरंग समाप्त

———❀———
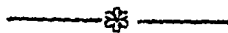
अथ जीवाजीवाधिकार

३२—जिस प्रकार नाटकमें कोई मृत्युका पार्ट कर रहा हो तो अविवेकी देखने वाले दुखी हो जाते हैं कि हाय देखो यह उत्तम पात्र गया। परन्तु जिसे यह नाटकरूप दीखता है "कि कोई आदमी पात्र

बना है, वह तो मरा नहीं केवल यह वेश और प्रदर्शन किया जा रहा है" वह दुखी नहीं होता। इसी प्रकार जिसे निज अचल चैतन्य ज्योतिका परिज्ञान हो गया है, वह इन संसारके क्लेशोंको देखकर अधीर व आकुल नहीं हो जाता है, क्योंकि वह जानता है कि आत्मा चैतन्यमात्र है, यह परिणमन इसका अध्रुव वेश है।

३३—प्रश्न-जैसे अंगार-कोयलासे कालिमा अलग नहीं है, इसी प्रकार प्राकृतिक राग द्वेषसे मलिन अध्यवसान परिणामसे भिन्न आत्मा नहीं है या कर्मसे जीव अलग नहीं है या अध्यवसानकी संततिसे जीव अलग नहीं है या पुण्य पाप या साता असातासे या शरीरसे जीव अलग नहीं है। उत्तर-राग, द्वेष, कर्म, कर्मोदय आदि जिन जिन बातोंको जीव मान लिया है वे सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं व औपाधिक हैं, वे सब चैतन्यशून्य हैं। ज्ञानी जीवोंने पुद्गलद्रव्यके व उनके उन सब परिणमनों से भिन्न चैतन्यमात्र जीवद्रव्यको पाया है; अनुभवा है। उक्त बातोंमे आगम युक्ति स्वानुभव तीनोंसे बाधा आती है। पुद्गलके परिणमनोंसे आत्मा ऐसे भिन्न है जैसे कि किट्ट कालिमासे सुवर्ण भिन्न है।

३४—अज्ञानी पुनः प्रश्न करता है कि जैसे शिखरिणी दही शक्करकी मिलकर एक है, इसी तरह आत्मा और कर्म मिलकर ही जीव है, हमें तो यही समझमें आता है। उत्तर-जैसे सुवर्ण किट्ट कालिमासे अलग है; वैसे जीव पुद्गल कर्मसे अत्यन्त अलग है, त्रिकालमें भी आत्मा और कर्म एकरूप नहीं हो सकते।

३५—अज्ञानी पुनः प्रश्न करता है कि जैसे पाया ४ सीरा २ पाटी २ इस प्रकार ८ काठसे अतिरिक्त अन्य कोई खाट नहीं है, वैसे ही ८ कर्मोंसे अतिरिक्त अन्य कोई जीव नहीं है, आठ कर्मोंका संयोग ही जीव है। उत्तर-जैसे खाटपर सोने वाला पुरुष खाटसे भिन्न है, वैसे आठ कर्मोंके संयोगसे भिन्न चैतन्यस्वभाव जीव द्रव्य अलग है, ऐसा भेद ज्ञानियोंने स्वयं प्राप्त किया है।

३६—सिद्धान्त ग्रन्थोंमें जो त्रस स्थावर आदिको जीव कहा है,

वह व्यवहारनयसे कहा है। जैसे म्लेच्छ पुरुषोंको किसी संस्कृत शब्दमें आशीर्वाद दिया, तो जब तक म्लेच्छ भाषामें उल्था करके उसे समझाया न जावे वह समझ नहीं सकता, वैसे जो जीवके सहजस्वभावसे अनभिज्ञ हैं, ऐसे व्यवहारी जनोंको "चैतन्य" इतने शब्दसे न समझ सकनेके कारण जीवकी विकारी पर्यायों, असमानजातीय पर्यायोंका आश्रय लेकर समझाना पड़ता है, सो यद्यपि यह अभूतार्थ है, तथापि अभूतार्थ व्यवहार-नयके आश्रयसे दिखाना उचित ही है।

३७—जिस प्रकार सेनासहित राजा कहीं जा रहा हो और कोई पूछे यह कौन जा रहा है? तो यह उत्तर मिलता है कि यह राजा जा रहा है। वास्तवमें देखो तो राजा पांच योजनमें फैलकर तो नहीं जा रहा है, वह तो एक पुरुषमात्र है फिर भी सेनासमुदायमें राजाका व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार एक सहज शुद्ध आत्मा समस्त रागादि पर्यायोंमें व्याप्त नहीं होता, तथापि उन समस्त पर्यायोंमें सम्बन्ध या परिणमनके कारण यह जीव है, ऐसा व्यवहार किया जाता। वास्तवमें तो आत्मा एकरूप है, उसके न वर्ण हैं न गंध हैं और न गुण-स्थान जीव स्थान आदि है, वह तो सदा एकरूप है।

३८—जीव रूपरसगंधस्पर्शशब्दसे रहित अनुभवगम्य चेतन गुणात्मक है, जीवमें वर्ण आदिक राग आदिक गुणस्थान आदिक नहीं है, क्योंकि ये पुद्गलके उपादानमें या पुद्गलके निमित्तसे होते हैं और स्वानुभवसे भिन्न तत्त्व हैं। तथापि अनेक ग्रन्थोंमें इन्हें जीवके कहे गये हैं, वह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमात्रके कारण व्यवहारसे जीवके समझना। निश्चयनयसे ये कोई भाव जीवके नहीं हैं। जैसे—कुसुंभ (कौसुमी) रंगमें रंगे हुए सूती वस्त्रको देखकर लोग यह कहते हैं कि यह कपड़ेका रंग है। निश्चयसे वह रंगका रंग है, कपड़ा तो केवल वही है, जैसा कि पहिले था, किन्तु रंगके सम्बन्धसे हुए कपड़ेकी व्यक्त शकलको …कर लोग यही कहते हुए पाये जाते हैं कि रंग वस्त्रका है, यह व्यवहार …। इसी प्रकार निश्चयसे तो आत्मा आत्मद्रव्यस्वरूप है, परन्तु औपाधिक

भावोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो रागादिक सब जीवके कहे जाते हैं, यह सब व्यवहारनयसे है।

३६—जैसे पानी मिले हुए दूधका पानीके साथ यद्यपि परस्पर अवगाह रूप सम्बन्ध है, तथापि लक्षणोंसे देखो-क्षीरत्व गुण दूधमें ही रहता है जो कि पानीमें नहीं है, तब दूधका पानीके साथ तादात्म्य सम्बन्ध तो नहीं कहा जा सकता, जैसे कि अग्निका तादात्म्य उष्णताके साथ है; यही कारण है कि निश्चयसे दूधका पानी कुछ नहीं है। इसी प्रकार वर्णादिक व रागादिक पुद्गलद्रव्यके परिणामोंसे मिले हुए आत्मा का यद्यपि पुद्गलद्रव्यके साथ परस्पर अवगाह रूप सम्बन्ध है, तथापि लक्षणोंसे देखो उपयोग (ज्ञान दर्शन) गुण आत्मामें ही रहता है, अन्य किसी द्रव्यमें नहीं रहता, तब आत्माका अन्य सब द्रव्य व पुद्गल-परिणामोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध तो नहीं कहा जा सकता, जैसे कि अग्निका उष्ण गुणके साथ तादात्म्य है, यही कारण है कि निश्चयसे आत्माके वर्णादिक व रागादिक कोई भी पुद्गल परिणाम नहीं है।

४०—जैसे जिस रास्तेमें स्थित धनीको चोर लूट लेते हैं, उस रास्तेमें स्थित होनेके कारण लोग ऐसा कहने लगते हैं कि यह रास्ता लुटता है, यह उपचारसे कहा गया है, किन्तु निश्चयसे देखो तो रास्ता तो उस जगहके आकाशके प्रदेश हैं सो रास्ता कैसे लुट सकता, नहीं लुटता। इसी प्रकार जिस जीवमें बन्धपर्यायसे अवस्थित कर्म नोकर्म रागादिक देखे जाते हैं। उस जीवमें रहनेके कारण याने सम्बन्ध होनेके कारण लोग ऐसा कह देते हैं कि ये वर्णादि रागादि जीवके हैं, यह उपचारसे कहा जाता है, किन्तु निश्चयसे देखो तो जीव तो ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला है। अमूर्त है सो जीवके रागादिक वर्णादिक कैसे हो सकते हैं, नहीं होते। क्योंकि जीवका उनके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि जो जिस स्वरूपसे सदा रहे, जिस स्वरूप बिना कभी रहता ही नहीं, उसका उससे तादात्म्य सम्बन्ध होता है। सो यद्यपि संसारावस्थामें रागादि वर्णादिका कथंचित् सम्बन्ध है तो भी मोक्षावस्थामें तो नहीं है। इससे सिद्ध है कि

वर्णादिक व रागादिक भाव जीव नहीं है।

४१—जैसे सुवर्णके द्वारा रचा गया आभूषण सोना ही है, वैसे ही पुद्गल नामकर्म द्वारा रचे गये बादर सूक्ष्म त्रस स्थावर आदि जीवस्थान पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं।

४२—सिद्धान्त शास्त्रोंमें ये सब जीवके भेदरूपसे कहे गये हैं, वे कुछ प्रयोजनवश कहे गये हैं। जैसे कोई पुरुष जन्मसे ही एक घीके घड़ेको समझता है। उसके सिवाय दूसरे घड़ेको जानता नहीं, तो उसे यथार्थ बात समझानेके लिये यही तो कहना पड़ता है कि "जो यह घीका घड़ा है सो मिट्टीमय है घृतमय नहीं है। इस तरह समझाने वाले उस घड़ेमें घीके घड़ेका व्यवहार करते हैं, क्योंकि समझाया तो उन्हें जा रहा है जिसे 'घीका घड़ा" ही ज्ञान है। वैसे ही अज्ञानी जीवोंको अनादिसे ही अशुद्ध जीवका परिचय है। वे शुद्ध जीवस्वरूपको जानते ही नहीं हैं, सो उन्हें समझानेके लिये इस व्यवहारका आश्रय करना पड़ता है, कि देखो जो यह वर्णादिमान जीव है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं। चूंकि अज्ञानी जीवको वर्णादिमान जीव ही ज्ञात है। अतः इसके प्रतिबोधके प्रयोजनके लिये बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त आदि संज्ञाओंको जीवसंज्ञारूपसे सिद्धान्त शास्त्रोंमें कहा गया है। निश्चयसे वर्णादिक जीव नहीं है।

४३—तथा यह भी सही है कि रागादिक भाव भी जीव नहीं है। जैसे यवपूर्वक होने वाले यव (जौ) यव ही कहलाते हैं, इसी प्रकार पौद्गलिक मोहनीयकर्मके विपाकपूर्वकपना होनेपर होने वाले ये अचेतन रागादिक पुद्गल ही समझना, ये जीव नहीं है। भेदज्ञानियोने चैतन्य स्वभावसे भिन्नरूप ही उनका निर्णय किया है, सो रागादिक गुणस्थानादिक सब अचेतन हैं, अचेतन पुद्गल कर्मके उदयके निमित्तसे होते हैं, अतः रागादिक जीव नहीं है। जीवका लक्षण अनादि अनंत अचल चैतन्य ही है। रागादिक जीवसे अव्याप्त है, अमूर्तत्व जीवके अतिरिक्त आकाशादिक ...जीवमें अतिव्याप्त है, सो ये दोनों जीवके लक्षण नहीं। जीवका निर्दोष ...ण चैतन्य है।

४४—जैसे अनेक अवयवों वाले काठको विभागयोग्य जानकर कुशल कारीगर उस संधिपर जहांसे विभाग होना है, करौंतको वार वार चलाता है, उसके फलस्वरूप उन भागोंका विघटन हो जाता है, फिर करौंत चलानेकी आवश्यकता नहीं और वहां करौंत जगमगाती स्वतन्त्र अपनी शोभा रखने लगती है। वैसे ही जीव अजीव इन अनेक द्रव्योंके इस पिण्डको विभागयोग्य जानकर ज्ञानी भेद विज्ञानका वार वार अभ्यास करता है और प्रयोग करता है, उस संधि पर जहाँसे जीव अजीवका विभाग होना है। इसके फलस्वरूप जीव अजीवका स्पष्ट विघटन हो जाता है, फिर भेदविज्ञानके अभ्यासकी आवश्यकता नहीं, वहां जो अत्र अभेदस्वभाव आत्माके निर्विकल्प अनुभवसे यह आत्मद्रव्य वड़े वेगसे उत्कृष्टरूपसे प्रकाशमान चकासमान हो जाता है। इस तरह जीव और अजीव जो रंगभूमिमें वेश धर कर नाच रहे थे वे पृथक् होकर निकल जाते हैं, स्वतन्त्र अनुभव में आ जाते हैं।

इति जीवाजीवाधिकार समाप्त

——:&:——

अथ कर्तृकर्माधिकारः

४५—जीव परिणमनशील है, वह परिणमता रहता है परन्तु उपाधिके निमित्तसे तो विभावरूप (क्रोधादिरूप) परिणम जाता है और उपाधिका निमित्त न वनने पर स्वभावको अनुरूप परिणम जाता है। जीव जव विभाव परिणामोंमें कर्तृत्वबुद्धि करता है अथवा उनमें आत्म-बुद्धि करता है, तव वह कर्मोंके महान् वन्धन वना लेता है। वही जीव अन्तरात्मा होकर जव निज ध्रुव स्वभावमें और विभावमें अन्तर जान लेता है और कर्तृत्वबुद्धि दूर कर लेता है, तव कर्मोंका वन्धन दूर होता है। यह भेदविज्ञान किस प्रकार होता है ?

जैसे—जलमें काई है वह जलका तो स्वभाव है नहीं, जलमें केवल वह गन्दगीरूप है सो गन्दी काई है, जल गन्दा नहीं है। इसी प्रकार जीव

में परभाव विभाव (रागादि) हैं, सो अशुचि विभाव हैं, जीवद्रव्य अशुचि नहीं। इस प्रकार आत्मद्रव्यमें और रागादिमें अन्तर ज्ञान होता है।

जैसे काई स्वयं ऐसी प्रसर्पित नहीं है, जल स्वयं प्रसर्पिन है, इसी प्रकार विभाव स्वयं चेतक नहीं वह जीव द्वारा चेत्य है, परन्तु जीव स्वयं चेतक है। ऐसा आत्म द्रव्यमें और रागादिमें अन्तर ज्ञान होता है।

जैसे—काई अन्यकी गन्दगीका भी कारण है, परन्तु जल गन्दगीका कारण नहीं। इसी प्रकार विभाव आकुलताका कारण है, परन्तु आत्मा आकुलताका कारण नहीं है। ऐसे आत्मद्रव्यमें और रागादिमें अन्तर ज्ञान होता है।

४६—जब आत्मद्रव्यमें व विभावमें भेदविज्ञान होता है, उसी समय विभावकी निवृत्ति होने लगती है। इसका काल प्रबल भेदविज्ञान है। जैसे वृक्षमें लाख लग जावे तो लाख तो घातक होता है और वृक्ष वध्य होता है। इसी प्रकार जीवमें विभाव लग जाता है तो विभाव तो घातक है और जीव वध्य है। ऐसा महान् अन्तर तत्त्वज्ञानीको निश्चित हो जाता है।

४७—जैसे मृगी रोगका वेग कभी घटता है, कभी बढ़ता है। इसी प्रकारके ये विभाव हैं, कभी घटते हैं, कभी बढ़ते हैं अर्थात् अध्रुव हैं। इस तरह आत्मद्रव्य अध्रुव नहीं है, वह चैतन्यमात्र है और इस स्वरूपसे सदा अचल है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी जीवको आत्मद्रव्य और विभावमें अन्तर निश्चित हो जाता है।

४८—जैसे शीतज्वरका दाह एक स्थिति पर नहीं रहता है। वह क्रमसे बढ़ता घटता है अतएव अनित्य है। वैसे ही ये विभाव एक स्थिति पर नहीं रहते, ये भी बढ़ते घटते रहते हैं अतएव रागादि विभाव भी अनित्य हैं। किन्तु, मात्र चैतन्यस्वभावी जीव स्वभावमें अपरिवर्तित होने से नित्य है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानीको स्वद्रव्य और विभावमें अन्तर निश्चित हो जाता है।

४९—जैसे कामी पुरुषके देहवीर्यके अलग होते ही कामविकार

संस्कारको रखनेमें कोई समर्थ नहीं है, सो जैसा यह कामसंस्कार अशरण है। इसी तरह संसारी जीवके बद्ध कर्मके उदय होते ही औदयिक विभाव होकर नष्ट होते हैं, उन्हें फिर कोई एक पल भी रखनेमें याने बचानेमें समर्थ नहीं है। किन्तु, यह आत्मतत्त्व स्वयं त्रिकाल सुरक्षित है, शरणभूत है। ऐसा अन्तरबोध तत्त्वज्ञानीके हो जाता है।

यहां इतनी विशेषता जानना कि जैसे वीर्य निर्मोक्षसे कामसंस्कार सर्वथा समाप्त नहीं होता है, किन्तु कुछ क्षण बाद फिर कामविकार जागृत हो जाता है। यह कुभाव तो ज्ञान भावसे समाप्त होता है। इसी तरह कर्मोदय हो लेने पर विभावसंस्कार सर्वथा समाप्त नहीं होता है, किन्तु द्वितीय क्षणमें ही कर्मोदय निमित्तक विभाव फिर जागृत हो जाता है। विभाव तो ज्ञानभावनासे ही समाप्त होता है।

इतने पर भी बात कहीं समाप्त नहीं होती, ये विभाव अपने काल में आकुलतास्वभावी होनेसे साक्षात् दुःखरूप हैं और इस निमित्तसे बंधे हुए कर्मोंका भविष्यकालमें जब उदय अथवा उदीरणा होगी उस कालमें भी दुःख भोगना पड़ेगा। अतः इनका दुःख ही फल है। किन्तु, आत्मा अनाकुलस्वभावी है, अतः दुःखरूप नहीं है और न आत्मतत्त्व भविष्यकाल में किसी द्विविधाका कारण है, अतः इसका फल भी अनाकुलता ही है। ऐसा अन्तरज्ञान तत्त्वज्ञानीके हो जाता है।

५०—ऐसा अन्तरज्ञान होते ही कर्मोदय शिथिल हो जाता है याने विभाव शिथिल हो जाता है और आत्माका सहज चैतन्य शुद्ध विकास बढ़ जाता है। जैसे कि जब मेघपटल विघटित होते हैं तब दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं और प्रकाश सर्वत्र बढ़ जाता है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी जीवके जैसे जैसे ज्ञानस्वभाव विशेष स्वच्छ व्यक्त होता जाता है, वैसे वैसे आस्रवोंसे निवृत्ति होती जाती है और जैसे जैसे आस्रवोंसे निवृत्ति होती जाती है, वैसे वैसे विज्ञान घनस्वभाव व्यक्त होता जाता है।

विज्ञान घनस्वभाव तब तक उज्जृम्भमाण होता रहता है जब तक

कि आस्रवोंसे संपूर्णतया निवृत्ति हो जाती है और आस्रवोंसे तब तक निवृत्ति होती रहती है जब तक कि विज्ञान घनस्वभाव पूर्ण प्रकट हो जाता है।

५१—इस प्रकार संपूर्ण आस्रवनिवृत्तिका व सर्वथा सम्पूर्ण ज्ञानविकासका समय एक है और तत्त्वज्ञानके अनन्तर व केवलज्ञानसे पहिले भी प्रत्येक क्षण यथायोग्य आस्रवनिवृत्ति व ज्ञानविकास है, उसका भी क्षण एक है। जैसे कि मेघपटलकी निवृत्ति व प्रकाशका विकास दोनों का एक क्षण है।

५२—आस्रवकी निवृत्तिका साधकतम भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान में यह प्रकाश रहता है, कि आत्मा कर्मके परिणमनको व नोकर्म (शारीरादि) के परिणमनको करता नहीं है। कर्म व नोकर्मके परिणमनको आत्मा क्यों नहीं करता ? इस कारण कि कर्म व नोकर्म जुदा पदार्थ हैं और आत्मा उन दोनोंसे जुदा पदार्थ है। जैसे घट और कुम्हार ये दो जुदे चीज हैं इस कारण घटके परिणमनको कुम्हार नहीं करता है।

५३—फिर कर्म, नोकर्मके परिणमनको कौन करता है ? कर्म पुद्गलकी पर्याय है व नोकर्म भी पुद्गलकी पर्याय है। कर्म परिणमनका पुद्गलसे व्याप्यव्यापकभाव है। शारीरादि नोकर्म परिणमनका भी पुद्गल से व्याप्यव्यापक भाव है। जिन पुद्गल स्कन्धोंका कर्म परिणमन है, वे पुद्गल स्कन्ध कर्मको करते हैं। जिन पुद्गल स्कन्धोंका शारीरादि परिणमन है, वे पुद्गल स्कन्ध शरीरादि नोकर्मको करते हैं। जैसे घट परिणमनको कौन करता हैं ? घट मिट्टीसे बना हुआ है: जिस मिट्टी पिण्ड का घट परिणमन हुआ है, वह मिट्टी पिण्ड घट परिणमनको करता है।

५४—कर्मके परिणाम क्या हैं ? परिणाम शब्दसे दो ध्वनि निकलती हैं। (१) फल, (२) परिणमन। वस्तुतः कर्मका फल भी कर्मका परिणमन है, फिर भी कर्मके उदयको निमित्त पाकर आत्मामें जो मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि विभाव होते हैं, वे भी कर्मके परिणाम कहे जाते हैं। सो इनका कर्मके साथ अन्वय व्यतिरेक है, याने कर्मोदय होने

पर ही होते हैं, कर्मोदय विना नहीं होते, अतः ये कर्मके परिणाम हैं। जैसे कि दर्पणके सामने कोई रंग विरंगा खिलौना रख दिया जावे तो दर्पणमें उस खिलौनेके अनुरूप प्रतिविम्ब वन जाता है। वह प्रतिविम्ब खिलौनेका परिणाम है, क्योंकि उस छायाका खिलौनेके साथ अन्वय व्यतिरेक है, याने उस खिलौनेके समक्ष होनेपर ही होता है। खिलौनेके हट जाने पर निवृत्त हो जाता है। इस ही को स्फटिक व डाफ परसे घटा लिया जावे।

५५—कर्म परिणामनका कर्ता कर्म है। यह तो अत्यन्त स्पष्ट ही है। नोकर्मके परिणाम क्या हैं? शरीरका किसी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण-रूप परिणमना, मोटा पतला आदि रूप परिणमना शरीरका (नोकर्मका) परिणाम है अर्थात् जिन पुद्गल स्कन्धोंका वह परिणमन है, उनका परिणाम है। इनका कर्ता ये पुद्गल स्कन्ध है। जैसे घट परिणमनका अर्थात् कम्बुग्रीवादि आकार व उन उन स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णका कर्ता मिट्टी है। जिनका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध होता है, उनमें कर्म व कर्ताका व्यवहार होता।

५६—प्रश्न—यदि पुद्गल परिणाम व जीवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं, तो फिर इन्हींमें क्यों सन्देह हुआ? उत्तर—पुद्गल परिणाममें व जीवमें ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है, कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं। जीव पुद्गल परिणामका कर्ता नहीं, किन्तु ज्ञाता है। जैसे कि कुम्हार घट परिणमनका कर्ता नहीं, किन्तु ज्ञाता है।

५७—प्रश्न—जीव पुद्गल परिणमनका ज्ञाता ही सही, इस प्रकार भी तो ज्ञाता जीव व्यापक हो गया व पुद्गल परिणाम व्याप्य हो गया? उत्तर—नहीं, पुद्गल व आत्माके ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध होनेपर भी जीवमें पुद्गल परिणाम व्याप्य नहीं है, किन्तु पुद्गल परिणामको विषय करके जो पुद्गल परिणाम विषयक ज्ञान हो रहा है, उस ज्ञानके साथ उस समय जीवका व्याप्यव्यापक भाव हो रहा है। जैसे—कुम्हारका घट परिण-मनके साथ व्यापकव्याप्य सम्बन्ध नहीं है, किन्तु घट परिणामको विषय

करके जो घट विषयक ज्ञान हो रहा है, उस ज्ञानके साथ उस जीवका (कुम्हारका) उस समय व्याप्यव्यापक सम्बन्ध हो रहा है।

५८—व्याप्यव्यापक भावके बिना कर्ताकर्मकी सिद्धि नहीं होती। व्याप्यव्यापक भाव भिन्न भिन्न द्रव्योंमें नहीं होता क्योंकि सर्व द्रव्य स्वयं स्वतन्त्र हैं। इस प्रकारके ज्ञान प्रकाशसे ज्यों ही अज्ञानान्धकार नष्ट होता है, त्यौं ही यह आत्म तत्त्व ज्ञानियोंको कर्तृत्वशून्य दृष्टिगोचर होता है; जैसे सूर्यके प्रखर तेजसे ज्यौं ही अन्धकार नष्ट होना है, त्यौं ही दर्शकोंको यह सूर्य प्रभाव विशद दृष्टिगोचर होता है।

५९—प्रश्न-ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मको जानता है, फिर जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव क्यों नहीं है? उत्तर-जैसे मन्दिरको जाते हुए किसी भक्तको कोई पुरुष जान रहा है, (देख रहा है), तो क्या दर्शक पुरुष उस भक्तका या भक्तके गमनका कर्ता हो जायगा? कभी नहीं, इसी प्रकार पौद्गलिक स्कन्ध खुद अपनेमें कर्मत्व पर्यायको ग्रहण कर रहा है, उसे कोई आत्मा जाने तब क्या वह आत्मा पुद्गलकर्मका कर्ता हो जायगा? कभी नहीं।

६०—जैसे डाले गये योग्य दही आदिके सम्बन्धसे दूध दूध अवस्थाको दहीरूप परिणम जाता है, इसे जानने वाला वह जामन डालने वाला पुरुष क्या दही परिणमनका कर्ता हो जाता है? कभी नहीं, इसी प्रकार योग्य जीव परिणामोका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा अकर्मत्व अवस्थाको त्यागकर कर्मरूप परिणम जाता है, इसे जानने वाला वह जीव क्या पुद्गल कर्मका कर्ता हो जायगा? कभी नहीं।

६१—जैसे अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नको करते हुए लुहारके पास लोहा तलवाररूप बन रहा है, तलवाररूप अवस्थामें लोहा परिणम रहा है, इसे जानने वाला वह लुहार क्या लोहेका अथवा तलवारका कर्ता हो जायगा याने क्या लुहार तलवार पर्यायमें परिणम जायगा? कभी नहीं; इसी प्रकार अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नको करते हुए जीवके पास याने कर्मरूप बन रही है, कर्मत्व अवस्थामें परिणम रही है,

इसे जानने वाला वह जीव क्या पुद्गलकर्मका कर्ता हो जावेगा याने क्या जीव पुद्गल कर्मपर्यायमें परिणम जावेगा ? कभी नहीं।

६२—प्रत्येक पदार्थ मात्र अपनी ही वर्तमान पर्यायको व्यापकर ग्रहण करता है, व्यापकर उस ही पर्यायरूप परिणमता है, व्यापकर उस ही पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। जैसे कि मिट्टी ही व्यापकर मृण्मय घट अवस्थाको ग्रहण कर रही है, मिट्टी ही व्यापकर घट अवस्थारूप परिणम रही है, मिट्टी ही व्यापकर उस पर्यायरूपमे उत्पन्न है, उसको जानने वाला कुम्हार या अन्य पुरुष हो तो क्या उस पुरुषके साथ घटका कर्ताकर्मभाव बन जायगा ? कभी नहीं; इसी प्रकार पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें ही व्यापकर कर्मरूप अवस्थाको ग्रहण करती हैं, कर्म पर्यायरूपसे परिणमती हैं, कर्म पर्यायरूपमे उत्पन्न होती हैं, उसको जानने वाला वह जीव जिसके एक क्षेत्रावगाहमें पुद्गल कर्म भी है, क्या उस ज्ञाता जीवके साथ पुद्गल कर्मका कर्ताकर्मभाव हो जायगा ? कभी नहीं।

६३—प्रश्न-आत्मा ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुकूल अपने परिणामको जानता है, ऐसे इस आत्माका पुद्गलकर्मके साथ कर्ताकर्म भाव क्यों नहीं है ? उत्तर-आत्माका परिणाम आत्मामें ही व्याप्य है। आत्मपरिणामको आत्मा ही अन्तर्व्यापक होकर ग्रहण करता है, उस ही को परिणमाता है, उस ही रूपसे उत्पन्न होता है। अतः आत्मा बाहर रहने वाले पुद्गल द्रव्यके परिणामका कैसे कर्ता हो जायगा। जैसे कलशको मिट्टी ही अन्तर्व्यापक होकर ग्रहण करती है, कलशको ही परिणमाती है, कलशरूपसे ही उत्पन्न होती है, अतः मिट्टीसे बाहर रहने वाले कुम्हार आदि कलशके कर्ता कैसे हो जायेंगे। कुम्हार तो मात्र अपने परिणामको ही अन्तर्व्यापक होकर ग्रहण करता है।

ज्ञानीके परिणामको निमित्त पाकर ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो जाता है और उस क्षयोपशमके अनुकूल आत्मा अपने परिणामको जानता भी है तो भी पुद्गल द्रव्यके परिणामको नहीं करने वाले आत्मा का पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव कैसे बन जावेगा।

६४—आत्मा पुद्गलकर्मके फल, सुख दुःख आदिको भी जानता है, फिर भी इसका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। जैसे कि कलश-निर्माणके कालमें कलश विषयक निमित्त पाकर होने वाले श्रमको कुम्हार जानता है, तो भी वास्तवमें कुम्हार कलशका कर्ता नहीं और न कलश कुम्हारके श्रमका कर्ता है, वैसे ही पुद्गलकर्मके उदयको निमित्त पाकर हुए सुख, दुःख आदि परिणामको आत्मा जानता है। फिर भी न तो आत्मा पुद्गलकर्मका कर्ता है और न पुद्गलकर्म आत्मपरिणामका कर्ता है।

६५—पुद्गलकर्म तो अचेतन ही है, वह न तो जीवके परिणाम को करता है और न अपने परिणामको वह जानता है। उसकी तो मोटे रूपमें भी आत्म परिणामके कर्तापनेकी कल्पना करना अटपटी बात है। पुद्गल द्रव्यका कर्मपरिणाम पुद्गल द्रव्यमें ही व्याप्य है; जीवका परिणाम जीवमें ही व्याप्य है। जैसे कि मिट्टीका कलश परिणाम मिट्टीमें ही व्याप्य है, कुम्हारका परिणाम कुम्हारमें ही व्याप्य है। कोई किसीको न जाने इससे भी कोई एक दूसरेका कर्ता नहीं हो जाता। कोई किसीको जाने इससे भी कोई एक दूसरेका कर्ता नहीं हो जाता।

६६—आत्माका पुद्गलके साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है। अतः इनमेंसे कोई किसी अन्यका कर्ता नहीं, फिर भी जो कर्ताकर्म जैसी बात बुद्धिमें जिनके है वह सब अज्ञानसे प्रतिभात होता है। सो जब ही भेदविज्ञानकी किरणें पड़ती हैं, तब ही उनमें प्रकट भेद नजर आता है और कर्ताकर्म सम्बन्धका भ्रम समाप्त हो जाता है। जैसे कि अनेक भाग वाले काठपर ज्यों ही करोंती पड़ती है कि दो भेद हो जाते हैं।

६७—यद्यपि जीव परिणाममें और पुद्गलकर्ममें निमित्तनैमित्तिक भाव है अर्थात् जीव परिणामको निमित्तमात्र पाकर पुद्गल कर्मरूपसे परिणमता है और पुद्गलकर्मको निमित्तमात्र पाकर जीव उस अनुरूप [illegible]त है, तो भी जीव कर्मके गुणको नहीं करता है और न कर्म [illegible]के गुणको करता है तथा न तो जीव पुद्गलकर्मके गुणमें कुछ

करता है और न कर्म जीवके गुणमें कुछ करता है। जैसे कि कुम्हारके व्यापारको निमित्त (आश्रय) पाकर मृत्कलश परिणमन होता है और उस मृत्पिण्डको निमित्त (आश्रय) पाकर कुम्हारका व्यापार होना है, फिर भी मृत्पिण्ड कुम्हारके गुणको नहीं करता है और न कुम्हार मृत्पिण्डके गुण को करता है तथा न तो मृत्पिण्ड कुम्हारके गुणमे कुछ करता है और न कुम्हार मृत्पिण्डके गुणमें कुछ करता है।

६८—जैसे मिट्टीके द्वारा कलशका करना होता है, वैसे ही जीवके द्वारा उस जीवका भाव ही करनेमे आता है। इस कारण जीव अपने भावका कर्ता कहा जा सकता है, अन्य द्रव्यके भावका कर्ता नहीं।

६९—जैसे कि मिट्टी द्वारा वस्त्रका करना नहीं हो सकता, अतः मिट्टी वस्त्रका कर्ता किसी भी प्रकार नहीं है वैसे ही जीवके द्वारा पुद्गल का करना किसी भी प्रकार नहीं होता, अतः जीव पुद्गलका कर्ता कभी नहीं होता; क्योंकि अपने भावसे परका भाव किया ही नहीं जा सकता।

७०—वस्तुकी प्रकृतिके कारण प्रत्येक वस्तु मात्र अपने ही परिणमनका कर्ता होता और भोक्ता होता है। जैसे कि किसी भी व्यापार में रहने वाला कुम्हार मात्र अपने ही परिणमनका कर्ता होता और भोक्ता होता है।

७१—जैसे कि हवाके चलनेके निमित्तसे समुद्र तरङ्गित हो जाता है और हवा न चलनेके निमित्तसे समुद्र निस्तरङ्ग हो जाता है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी हवा व समुद्रमें व्याप्यव्यापक भाव नहीं है, याने समुद्रमें न हवा व्याप्य है और न हवामें समुद्र व्याप्य है अथवा समुद्र हवाके स्वरूपको ग्रहण नहीं करता और न हवा समुद्रके स्वरूपको ग्रहण करती है। फिर हवा व समुद्रमें कर्ताकर्म भाव कैसे हो सकता है। इस प्रकार कर्मके उदयके सद्भावको निमित्त पाकर जीव संसारी होता है और कर्मके उदयके असद्भावको अर्थात् कर्मके अभावको निमित्त पाकर जीव मुक्त होता है, तो भी जीवका कर्मके साथ व्याप्य-

व्यापक सम्बन्ध नहीं है याने जीवमें न कर्म व्याप्य है और कर्ममें न जीव व्याप्य है। फिर जीव व कर्ममें कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है।

७२—जैसे समुद्रकी तरङ्गवाली अवस्थामें समुद्र ही अन्तर्व्यापक है, वहां समुद्र ही निश्चयसे अपने आपको तरङ्गवाला कर रहा है। उसी प्रकार जीवकी संसार अवस्थामें जीव ही अन्तर्व्यापक है, वहां जीव ही निश्चयसे अपने आपको संसारी कर रहा है।

७३—तथैव जैसे समुद्र और हवा जुदे जुदे पदार्थ होनेसे इनमें भाव्यभावक भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का अनुभवन नहीं कर सकता। अतएव समुद्रकी सतरङ्ग अवस्थाका हवा भोक्ता नहीं है अथवा हवाकी अवस्थाका समुद्र भोक्ता नहीं है। इसी प्रकार जीव और पुद्गलकर्म जुदे जुदे पदार्थ होनेसे इनमें भाव्यभावक भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका अनुभवन नहीं कर सकता। अतएव जीवकी संसारावस्थाका कर्म भोक्ता नहीं है व कर्मकी उदयादि अवस्थाका जीव भोक्ता नहीं है।

७४—जैसे समुद्रकी सतरङ्ग व निस्तरङ्ग अवस्थाका अनुभवन समुद्रमें ही है, अतः समुद्र ही अपने आपको वहां सतरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग अवस्थामय अनुभवता हुआ याने वर्तता हुआ अपनेको ही भोगता है, अनुभवता है। ऐसा भी भेद दृष्टिमें प्रतीत होता है। वैसे ही जीवकी ससंसार व निःसंसार अवस्थाका अनुभवन जीवमें ही है, अतः जीव ही अपने आपको वहां ससंसार अथवा निःसंसार अवस्थामय अनुभवता हुआ, वर्तता हुआ अपनेको भोक्ता है। ऐसा भी भेददृष्टिमें प्रतीत होता है। अन्यको तो कोई अनुभवता ही नहीं है।

७५—प्रश्न-यदि एक द्रव्यकी दूसरे द्रव्यके साथ कुछ भी बात नहीं है तो समुद्रकी चर्चा हवाके साथ क्यों दिखाई अथवा जीवकी चर्चा कर्मके साथ क्यों दिखाई? उत्तर-जैसे मिट्टी ही कलशमें व्यापक है, अतः निश्चयतः कलश मिट्टीके द्वारा ही किया गया है और मिट्टीके ही द्वारा गया है, तो भी इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव भी तो है अथवा

बाह्य व्याप्यव्यापक भाव भी तो है याने कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारका करने वाला कुम्हार है और कलशके उपयोगसे संतोषको अनुभवने वाला कुम्हार है। इस व्यावहारिक बातको देखकर यह प्रसिद्ध हुआ है कि कुम्हार कलशको करता है व भोगता है। इसी प्रकार जीव ही अपने विकल्प आदि परिणाममें व्यापक है, अतः निश्चयतः जीवका परिणाम जीवके द्वारा किया गया है और जीवके द्वारा ही अनुभवा गया है। तो भी इनमें निमित्तनैमित्तिक भाव भी तो है अथवा बाह्य व्याप्य-व्यापक भाव भी तो है याने पुद्गल कर्मकी उत्पत्तिके अनुकूल परिणाम का करने वाला जीव है और पुद्गल कर्मके विपाकसे हुए सुख दुःख परिणामको भोगने वाला जीव है। इस व्यावहारिक बातको देखकर यह प्रसिद्ध हुआ कि जीव पुद्गल कर्मको करता है व भोगता है।

७६—अथवा, जैसे मिट्टीके आश्रय बिना कुम्हारका व्यापार वहां नहीं है और कुम्हारकी तृप्तिमें भी वह निमित्त आश्रय अथवा विषय पड़ा है, अतः व्यवहारसे कहा जाता है कि मिट्टी कलशने कुम्हारका व्यापार कराया व कुम्हारको तृप्त कराया। वैसे ही कर्मके विपाक बिना जीवमें विभाव नहीं हुआ और सुख दुःखका अनुभव भी नहीं हुआ, अतः व्यवहारसे कहा जाता है कि कर्मने जीवका भाव बनाया और सुख दुःख को भुगाया। किन्तु, वास्तवमें (वस्तुत्वमें) बात ऐसी नहीं है।

७७—यदि जीव पुद्गल कर्मको करे अथवा भोगे तो यह आपत्ति बन जावेगी कि एक द्रव्यने दो द्रव्यकी क्रिया कर दी। किन्तु ऐसा कभी भी नहीं होता और न ऐसा भगवानने निर्दिष्ट किया है। जैसे कुम्हार तो अपना ही व्यापार करता है और अपना ही परिणाम भोगता है, क्यों! कुम्हारका परिणमन कुम्हारके परिणामसे अभिन्न है और कुम्हारका परिणाम कुम्हारसे अभिन्न है, अतः कुम्हार मात्र अपने परिणमनको ही कर सकता है व भोग सकता है, कलशके परिणमनको नहीं, क्योंकि वह अन्य द्रव्य है। इसी प्रकार आत्माकी क्रिया आत्माके परिणामसे अभिन्न है और आत्माका परिणाम आत्मासे अभिन्न है, अतः आत्मा मात्र

अपना ही परिणमन कर सकता है व भोग सकता है। यदि कोई ऐसा देखे कि अन्य द्रव्यने अपनी भी क्रिया की व और अन्य द्रव्यकी क्रिया कर दी, तो वह मिथ्यादृष्टि है अर्थात् परस्पर सम्बन्ध माननेकी दृष्टि वाला है। मिथका अर्थ एक दूसरेका सम्बन्ध है।

७८—प्रत्येक द्रव्यकी क्रिया केवल उस एकमें ही समवेत है। कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यकी क्रिया कर देता है। यदि ऐसा माना जावे तो उसका रहस्य यह बन जायगा कि एक द्रव्य अपनी क्रियामें भी समवेत है और दूसरेकी क्रियामें भी समवेत है। इस तरह तो स्व व परका भेद भी खतम हो जायगा। जैसे कुम्हार अपनी क्रिया (परिणमन) करे और मिट्टीकी क्रिया (परिणमन) करे तो दो क्रियामें समवेत होनेसे अब क्या निश्चय है कि यह कुम्हार है कि मिट्टी है। परिणाम यह होगा कि दोनों का अभाव हो जावेगा। इसी तरह आत्मासे देखो—आत्मा अपनी क्रिया तो करता ही है, यदि पुद्गलकी भी क्रिया करे तो आत्मा अपनी क्रियामें भी समवेत हुआ और परकी क्रियामें भी समवेत हुआ, अब यह क्या निश्चय हो कि यह आत्मा है या पुद्गल है। परिणाम यह होगा कि दोनों का अभाव हो जायगा।

७९—अनेक पदार्थोंको सम्बन्ध रूपमें देखनेकी दृष्टि अभूतार्थ है व अहितकर है। इसलिये एक द्रव्यके द्वारा दो या अनेक द्रव्योंका परिणमन किया जाता है। ऐसा कभी मत प्रतीतिमें आवे। जैसे जो कि कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल अपनी क्रिया कर रहा है, वह कुम्हार अपनेसे अभिन्न क्रिया (परिणति) द्वारा अपनेसे अभिन्न परिणाम (व्यापार) को करता है, ऐसा ही प्रतीत होता है, किन्तु वह कुम्हार मिट्टीसे अभिन्न परिणतिके द्वारा मिट्टीसे अभिन्न परिणामको कर रहा है, यह प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार जैसे परिणामको निमित्तमात्र पाकर पुद्गल कर्म बंधता है, वैसे अपने परिणामको करता हुआ जीव अपनेसे अभिन्न तिके द्वारा अपनेसे अभिन्न परिणामको करता है, यही प्रतीत हो आत्मा पुद्गलसे अभिन्न क्रियाके द्वारा पुद्गलसे अभिन्न

परिणामको करता है, यह प्रतीत मत होओ।

८०—जैसे कुम्हारके व्यापाररूप कुम्हार ही परिणमता है, अतः उस व्यापारका कुम्हार ही कर्ता है और वही जो परिणाम है वह कुम्हार का कर्म है और कुम्हारकी जो परिणति है वह कुम्हारकी क्रिया है। इस कारण कुम्हार विषयक कर्ता, कर्म, क्रिया ये तीनों वास्तवमें भिन्न नहीं हैं। वैसे ही आत्मा अपने पर्यायरूप परिणमता है, अतः उस पर्यायका आत्मा ही कर्ता है और वही जो परिणाम वह आत्माका कर्म है और आत्माकी जो परिणति है वह आत्माकी क्रिया है। आत्म विषयक यह कर्तृत्व, कर्म व क्रिया ये तीनों वास्तवमें भिन्न नहीं हैं।

८१—प्रत्येक पदार्थ केवल अकेला ही तो उस रूप परिणमता है, वह परिणाम उस एकका ही होता है, वह परिणति उस एककी ही होती है, सो ये तीनों प्रतीति भेदमें तो जुदे हों तो भी एक ही हैं। जैसे कुम्हारके व्यापार रूप कुम्हार ही तो अकेला परिणमता है, वह उस अकेले कुम्हार का ही तो है व वह क्रिया भी उस अकेले कुम्हारकी ही तो है। कहनेको कर्तृत्वादि अनेक हैं, किन्तु वास्तवमें एक ही हैं। वैसे ही आत्माके पर्याय रूप केवल वह आत्मा ही तो परिणमता है, वह परिणाम भी उस आत्मा का अकेलेका ही तो है, वह परिणति भी उस अकेले आत्माकी ही तो है। प्रतीति भेदसे यद्यपि कर्तृत्व, कर्म व क्रिया ये अनेक हैं तो भी वास्तव में एक ही तो हैं।

८२—किसी एक पर्यायरूप दो या अनेक द्रव्य नहीं परिणमते, एक परिणाम दो या अनेक द्रव्योंका नहीं होता, एक परिणति दो या अनेक द्रव्योंकी नहीं होती। द्रव्य जब अनेक हैं तो वे सब भी अनेक ही हैं। जैसे घट पर्यायरूप कुम्हार व मिट्टी दोनों नहीं परिणमती, घट पर्याय-रूप कर्म उन दोनोंका नहीं है, घट परिणति रूप क्रिया इन दोनों द्रव्योंकी नहीं है। वैसे ही यहां भी देखो, ज्ञानावरणादि कर्म पर्यायरूप आत्मा व पुद्गल दोनों नहीं परिणमते, वह पर्यायरूप कर्म दोनोंका नहीं है, कर्म-परिणति दोनोंकी नहीं है। अथवा इस ओर देखो, जीवके विभाव पर्याय-

रूप जीव व कर्म ये दो पदार्थ नहीं परिणमते हैं, वह परिणाम दो का नहीं है, वह परिणति दो की नहीं है।

८३—एक पर्यायके दो द्रव्य कर्ता नहीं होते, एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते, एक द्रव्यकी दो क्रियायें नहीं होती, क्योंकि एक अनेक नहीं हो सकता। जैसे घट पर्यायके कुम्हार व मिट्टी दो कर्ता नहीं हैं, कुम्हारके या मिट्टीके दो कर्म नहीं हैं, कुम्हार या मिट्टीकी दो क्रियायें नहीं हैं। वैसे ही जीव परिणामके जीव व पुद्गल कर्म दो कर्ता नहीं हैं, जीव या पुद्गल कर्मके दो कर्म नहीं हैं, जीव या पुद्गल कर्मकी दो क्रियायें नहीं हैं। फिर एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। तो फिर आत्मा व पुद्गलकर्म इन दोनोंमें भी कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है।

८४—"परद्रव्यको मैं कर्ता हूँ" यह अहङ्कार जीवपर अनादिसे छाया है यही महान् अन्धकार है यह मिटे तो इस ज्ञानघन आत्माका बन्धन न हो। जैसे कि अन्धकार मिटे तो चोरोंके द्वारा उपद्रवका भय नहीं होता।

वास्तविक बात तो यह है कि आत्मा तो आत्माके भावको करता है, अन्य परद्रव्य उस ही परके भावोंको करता है। आत्माके भाव आत्मा ही हैं, परके भाव पर ही हैं, इस प्रतीतिको दृढ़ करो।

८५—प्रश्न-निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे जीव व कर्ममें परस्पर कुछ तो अपनायत होती ही होगी ? उत्तर-नहीं, क्योंकि वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्यका गुण, पर्याय, प्रभाव आदि ग्रहण नहीं करता। हां निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है। सो यह उपादानकी योग्यतापर निर्भर है, कि वह कैसे शक्ति पर्याय वाले पदार्थको निमित्तमात्र पाकर अनुरूप किस परिणमनसे परिणम जाय। जैसे एक दर्पण है, उसमें प्रतिबिम्ब रूपसे परिणमनेकी योग्यता है, वह जब सामने मयूरकी सन्निधि पाता है, तो उसके अनुरूप नीला, हरा, काला, पीला आदि रूपसे [परि]णम जाता है। जो यह परिणमन है, उसे मयूरप्रतिबिम्ब बोलते हैं।

मयूरप्रतिबिम्ब दर्पणकी स्वच्छताका विकार मात्र है। वह तो दर्पण है, दर्पणकी ही अध्रुव, औपाधिक परिणति है और मयूर मयूर ही है, उसका परिणमन मात्र मयूरमें ही है। मयूरका न तो दर्पण या दर्पण परिणमन है और दर्पणका न मयूर या मयूर परिणमन है। इसी प्रकार जीव है, उसमें रागद्वेषादि विभावरूपसे परिणमनेकी शक्ति है, सो इस योग्य पर्याय शक्ति वाला जीव रागप्रकृतिक द्वेषप्रकृतिक कर्मके उदयको निमित्तमात्र पाता है, तब राग द्वेषादि विभावरूपसे परिणम जाता है। जो यह विभाव परिणमन है, वह चैतन्यका विकारमात्र है, वह तो जीव है, जीवकी ही अध्रुव, औपाधिक परिणति है और कर्म अजीव (पुद्गल) ही है, उसका परिणमन मात्र उस कार्माणवर्गणामें ही है। जीवका न तो कार्माणवर्गणा या कर्म परिणमन है और कर्मका न जीव या जीव परिणमन है।

८६—जैसे दर्पण प्रतिबिम्बके प्रसङ्गमें मयूरको तो मयूर कहते ही हैं, मयूर प्रतिबिम्बको भी मयूर कहते हैं, सो वह तो मयूर मयूर है, यह दर्पणमयूर है, इसी तरह मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूप मोह रागद्वेषादि परिणमनके प्रसङ्गमे जीव परिणमनके नाम भी मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि हैं और जिन कर्म प्रकृतियोंको निमित्त पाकर वह राग द्वेप आदि हुआ, उन कर्मप्रकृतियोंके नाम भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि हैं। सो कर्म क्रोध है, वह तो अजीव क्रोध आदि है और जो जीव परिणमनमें क्रोध आदि है वह जीव क्रोध आदि है। ये दोनों पृथक् पृथक् हैं, इनमें कर्तकर्मभाव नहीं है।

८७—जैसे जो दर्पणमयूर है वह चलने फिरने खाने वाले तिर्यञ्च मयूरसे जुदा ही है और यह तिर्यञ्च मयूर दर्पणमयूरसे जुदा ही है, इसी प्रकार मिथ्यात्व, राग, द्वेष, आदि जो विभाव है वह मूर्त पुद्गल कर्म परिणामसे जुदा ही है और जो मोह, क्रोध आदि नामक पुद्गल कर्म है, वह अमूर्त चैतन्य परिणामसे जुदा ही है। इनमेंसे कोई किसी अन्यके स्वरूपमें प्रविष्ट नहीं है। फिर कर्तकर्मभाव इनमें परस्पर कैसे हो सकता

है। वास्तवमें कर्तृकर्मभाव एक ही पदार्थमें प्रतीतिवश सिद्ध होता है।

८८—जैसे दर्पण निमित्त सन्निधि मिटने पर अपने स्वच्छता रूप है और निमित्त मिलने पर फिर दर्पण प्रतिविम्ब रूपसे परिणाम जाता है, ऐसा जीवमें मूलसे नहीं है। याने जीव एक वार विलकुल स्वच्छ परिणमनसे परिणम कर पुनः विभावरूप नहीं परिणमता। हाँ जब तक विभाव पर्याय योग्यता है, तब तक यह होता है कि क्रोध प्रकृति निमित्त न होनेपर क्रोधरूप न परिणमा किसी अन्यरूप परिणमा और क्रोध प्रकृति निमित्त मिलने पर फिर क्रोध प्रतिविम्बरूप परिणाम गया।

८९—प्रश्न-चैतन्य परिणाममें मिथ्यादर्शनादि विकार कैसे हो गया? उत्तर-प्रत्येक वस्तुमें यह स्वभाव पड़ा है कि उसमें जितनी शक्तियाँ हैं, उन सब शक्तियोंरूप परिणम सके। जीवमें भी यही बात है। जीवकी अनन्त शक्तियोंमें एक शक्ति वैभाविकी भी है और अनादिकालसे जीवके साथ अन्य पदार्थ कर्म भी साथ है, अतः मिथ्यात्व, क्रोध आदि नामक कर्मप्रकृतियोंके उदय कालमें यह मलिन जीव भी मिथ्यात्व, क्रोध आदि विकार रूप परिणम जाता है। जैसे स्फटिकमें अन्य योग्य पदार्थको निमित्त पाकर उस अनुरूप रूपसे परिणमनेकी शक्ति है, सो पीला, हरा आदि रूप सुवर्ण, पत्ता आदिके आश्रय सहित होनेपर स्फटिकमें भी हरा, पीला आदि विकार हो जाता है।

९०—ऐसा होनेपर भी कहीं अन्य पदार्थ अन्य पदार्थके परिणाम का कर्ता नहीं हो जाता। जैसे पत्ताकी डाक होनेपर भी स्फटिकमें जो हरी छायामें रूप है उसका कर्ता डाक नहीं, क्योंकि वह परिणमन स्फटिककी अर्थक्रियासे है, पत्ताकी अर्थक्रियासे नहीं। इसी प्रकार कर्मोदय होनेपर जीवमें जो मिथ्यात्व, क्रोध आदि विभाव है, उसका कर्ता कर्म नहीं है, क्योंकि वह परिणमन जीवकी अर्थक्रिया है, कर्मकी अर्थक्रियासे नहीं।

९१—जिज्ञासा-मालूम तो ऐसा होता है कि जीवमें क्रोध आदि विकार नहीं है, कर्मके हैं अथवा किसीके नहीं हैं, केवल भ्रमवश ऐसा मालूम पड़ता है कि जीवके हैं, जैसे कि स्वच्छ सफेद स्फटिक हरा नहीं

हो जाता है, किन्तु डाकके सम्बन्धसे ऐसा लगता है कि स्फटिक हरा हो गया है। समाधान-स्फटिक डाकके अनुरूप छाया रूपमें परिणम जाता है। उस समय, जैसे कि दर्पण छाया रूपमें परिणम जाता है। इसी प्रकार जीव भी क्रोध आदि रूपमें परिणम जाता है। उस समय, भ्रम तो इसलिये जचता कि वह औपाधिक है, आत्माका सहज स्वभाव नहीं।

६२—प्रश्न—स्फटिकमें तो स्वच्छता ही है, उसमें से देखते तब रंगवाला डाक दीखता है; स्फटिकमें उस रंगरूप परिणमन तो नहीं है? उत्तर—स्फटिकमें दर्पणकी तरह मसाला लिया हुआ नहीं है। इसलिये बिना मसाला लिये हुए कांचमें जैसा बिम्ब रूप परिणमन होता है, प्रायः उसी भांति स्फटिकमें बिम्बरूप परिणमन होता है। जैसे कांच पारदर्शी है, वैसे स्फटिक भी पारदर्शी है, अतः जो विशेष गहरा रंगवाला कुछ दीखता है, वह डाक है। इसी प्रकार क्रोध प्रकृतिके उदयको निमित्तमात्र पाकर जीव क्रोधरूप परिणमन करता है। भेदविवक्षासे देखो तो चारित्र गुणके विकाररूप परिणमन होता है। जैसे कि स्फटिकमें भेद विवक्षासे देखो तो रूप गुणके परिणमनसे वह परिणमन है छाया बिम्बरूप। चैतन्य भाव उभयतः पारदर्शी है, याने निमित्तभूत जिस प्रकृतिके साथ क्रोधादि विकारका अन्वयव्यतिरेक है, उस ओर देखे अपनेमें से पार होकर तो जचता है कि कर्मका विकार है और विभावमें रहकर भी विभावके पार चैतन्य स्वभावको देखे तो जचता है यहाँ विकार ही नहीं। फिर विकारकी चर्चा करे तो वहां वह भ्रम प्रतीत होता है अथवा कर्मका विकार प्रतीत होता है।

६३—निश्चयतः जीव जिस जिस विकारसे परिणम कर जिस जिस भावको करता है, वह उस उस परिणामका कर्ता है। यद्यपि यह जीव स्वभावतः शुद्ध और निर्लेप है अतएव एक ही प्रकारका है, फिर भी वस्त्वन्तर भूत कर्मसे युक्त होनेके कारण अशुद्ध, सलेप है अतएव व नाना प्रकार परिणम कर नानारूप हो जाता है। जैसे स्फटिक जिस जिस रंगसे परिणम कर जिस जिस स्वरूपको करता है, वह स्फटिक निश्चयतः

उस उस परिणामनका कर्ता है। यद्यपि स्फटिक स्वभावतः स्वच्छ है, शुद्ध है, निर्लेप है अतएव एक ही प्रकारका है, फिर भी वस्त्वन्तरभूत डाकसे युक्त होनेके कारण अस्वच्छ, अशुद्ध, सलेप है अतएव च नाना प्रकार परिणाम कर नानारूप हो जाता है।

६४—इस प्रकार यह आत्मा नाना विभावरूप अपने परिणाम विकारको करता है, तभी कार्माणवर्गणारूप पुद्गल द्रव्य स्वयं मोहनीय आदि कर्मरूपसे स्वतः ही परिणाम जाता है। जैसे कि कोई मन्त्रप्रयोगी पुरुष सर्पविष दूर करता है, उस जगह होता क्या है कि विषापहार मन्त्र-प्रयोगी पुरुष तो उस प्रकारके ध्यान भावसे परिणमता है, सो वास्तवमें वह तो ध्यानका ही कर्ता है। उस समय ध्यान भावको निमित्तमात्र पाकर मन्त्रवादीकी परिणति ग्रहण किये बिना ही सर्पविष स्वयं दूर हो जाता है।

६५—तथा जैसे विडम्बक मन्त्रप्रयोगी पुरुष तो उस प्रकारके ध्यान भावसे परिणमता है, सो वह तो वास्तवमे ध्यान भावका ही कर्ता है। उस समय ध्यान भावको निमित्तमात्र पाकर मन्त्रवादीकी परिणति ग्रहण किये बिना ही स्वयं स्त्रियाँ विडम्बनाको प्राप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार कषायित जीव तो कषाय भावसे परिणमता है, सो वह तो वास्तवमें कषाय परिणामका ही कर्ता है। उस समय कषायभावको निमित्तमात्र पाकर जीवकी परिणति ग्रहण किये बिना ही कार्माणवर्गणामय पुद्गल द्रव्य मोहनीयादि कर्मरूपसे स्वयं परिणम जाते हैं।

६६—तथा जैसे साधक तो उस प्रकारका ध्यानभाव ही करता है, उसके ध्यान भावको निमित्त पाकर बन्धन साधककी परिणति लिये बिना ही स्वयं ही ध्वस्त हो जाते हैं, इसी प्रकार जीव तो अज्ञानसे मिथ्या-दर्शनादि भावरूपसे परिणमता हुआ, मिथ्यादर्शनादिभावका ही कर्ता है, उसके मिथ्यादर्शनादिभावको निमित्तमात्र पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मरूपसे स्वयं ही परिणम जाता है अथवा साधक तो मात्र अपने शुद्ध स्वभाव [illegible] करता है उसको निमित्तमात्र पाकर मोहनीयादि कर्म बन्धन

स्वयं ही ध्वस्त हो जाते हैं। वस्तुतः कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्यके सुधर अथवा विनाशका कर्ता नहीं है।

६७—कर्मबन्धन होनेका मूल निमित्त कारण अज्ञान ही है। जैसे कोई प्राणी ठंडे पानीके स्पर्शसे अज्ञानसे अपनेको ठंडा अनुभव करता है। यद्यपि वह ठंडापन पुद्गलमे ही है, जीवसे वह अत्यन्त भिन्न है, जीव शीतरूप कभी हो ही नहीं सकता, तो भी अज्ञानसे परमें व निजमें भेद-विज्ञान न करनेसे मैं ठंडा हो गया हूँ, ऐसा अनुभव करने लगता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव राग द्वेष आदि प्रकृतिरूप पुद्गलके परिणमनको अज्ञानसे आत्मरूप अनुभव करता है। यद्यपि वह प्रकृतिपना पुद्गलमें ही है, जीवसे वह अत्यन्त भिन्न है, जीव प्रकृतिरूप कभी हो ही नहीं सकता, तो भी अज्ञानसे परमें व निजमें भेद विज्ञान न करनेसे मैं इस रागद्वेषादि प्रकृतिरूप हो गया हूँ, ऐसा अनुभव करने लगता है अथवा रागद्वेषादि विभाव जो कि पुद्गलके परिणामस्वरूप (फलस्वरूप) अवस्था है, उसको अज्ञानसे यह अज्ञानी जीव आत्मरूप अनुभव करता है। यद्यपि ये रागद्वेषादि विभाव औपाधिक है, पुद्गल कर्मारोपित विकार हैं, जीवके शुद्ध (निरपेक्ष) स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न हैं, जीवका निरपेक्ष स्वभाव परारोपित विकाररूप कभी नहीं हो सकता है, तो भी अज्ञानसे परभावमें व निज स्वभावमें भेदविज्ञान न होनेसे अज्ञानी जीव अपने स्वभावको रागद्वेषादि विकाररूप ही अनुभव करता है। तब ऐसे अज्ञान भावका निमित्त पाकर कर्मबन्धन हो जाता है। इस प्रकार कर्मबन्धनका मूल निमित्त कारण अज्ञान ही है। अज्ञानसे जीव कर्मका कर्ता प्रतिभात होता है।

६८—ज्ञानसे जीव कर्मका अकर्ता होता है, ज्ञान होनेपर कर्मका बन्ध रुक जाता है। जैसे कि कोई प्राणी ठंडे पानीके संयोगमें भी अपना विवेकबल सही रखे और जाने कि यहां शीत स्पर्श तो पानीमें ही है, वह तो पुद्गल परिणामकी अवस्था है, सो वह उस पुद्गल स्कन्ध (पानी) से अभिन्न है, आत्मासे तो अत्यन्त भिन्न है। हां उस स्कन्ध संयोगको

निमित्तमात्र करके आत्मा ठंडेपनका अनुभव करे सो यहाँ यह ज्ञान तो उस कालमें आत्मासे अभिन्न है, सो यह अनुभव पुद्गलसे अत्यन्त भिन्न है। ऐसा विवेकबल होनेसे वह प्राणी अपनेको शीतरूप अनुभव नहीं करता है। इसी प्रकार ज्ञानी आत्मा देह व पुद्गल कर्मके संयोग कालमें भी अपना विवेकबल सही रखता और जानता है कि यह तो पुद्गलकी अवस्था है, सो पुद्गलमें ही है, आत्मासे तो अत्यन्त भिन्न है। हां उस स्कन्धकी विशिष्ट अवस्थाको निमित्तमात्र पाकर आत्मामें जो विभावका अनुभव हुआ है, वह उस कालसे आत्मासे अभिन्न है और पुद्गलसे तो अत्यन्त भिन्न ही है। ऐसा विवेकबल होनेसे आत्मा किञ्चित् भी अज्ञान रूपसे नहीं परिणमता है, ज्ञानमय निज आत्माके ज्ञानपनेको ही प्रकट करता है। इस प्रकार वह ज्ञानी जीव समस्त पर पदार्थोंका अकर्ता तो है ही; साथ ही रागादि विभावको भी परभाव जानता है, अपनेको ज्ञानरूप अनुभव करता है, अतः रागादि कर्मका भी अकर्ता हो जाता है।

६६—अज्ञानसे कर्म किस प्रकार आते हैं? इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे लाल मसालेका जिसमें संयोग है, ऐसा मलिन काच (दर्पण) सम्मुख हुए डाकके अनुरूप अपना परिणमन कर लेता है, उस परिणमनको विशेष व्यक्त करता है, उसको अपना लेता है याने ऐसा अपना लेता है कि अन्य पदार्थ जो उस डाकके पीछे हो, उनके छायारूप भी अपनेको नहीं बना पाता है और न अपना स्वच्छ भाव भी उस समय प्रकट कर पाता है। इसी प्रकार यह जीव जो कि अज्ञानरूप है, परपदार्थ व निज आत्माको एक रूपसे श्रद्धामें लेता है, याने इन्हें जुदे जुदे सत्तावानके रूपमें विश्वास नहीं कर पाता है, पर पदार्थ व निज आत्माको अविशेष रूपसे जानता है व इनमें अविशेष रूपसे वृत्ति करता है। इसी कारण अपनेको "मैं राग हूँ, मैं क्रोध हूँ" इत्यादि रूपसे अनुभव करता है। तब इस परिणामसे परिणमता हुआ जीव इस विकारका कर्ता हुआ। इस विभावको निमित्तमात्र पाकर पुद्गल कर्म स्वयं बन्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार जो ज्ञेयविकल्प होते हैं, उनमें व निज ध्रुव स्वरूपमें अन्तर न समझनेसे उन ज्ञेयविकल्पोंका भी कर्ता हो जाता है।

१००—जैसे कि मुझमें भूत प्रविष्ट हो गया है, इस ध्यानसे जो घिड़ा हुआ है, वह पुरुष अज्ञानसे भूत और आत्माको (अपनेको) एकमेक मान्यतामें कर देता है। अतः जो मनुष्यको अनुचित है, ऐसे अमानुष-व्यवहारका कर्ता हो जाता है। इसी प्रकार मैं क्रोध हूँ, इस प्रकार परभावको जो अपना लेना है व मैं पर ज्ञेयरूप हूँ, इस प्रकार पर पदार्थको अपना लेना है, वह अज्ञानसे विकार रूप परिणामसे परिणमकर विकारभावका कर्ता होता है।

१०१—जैसे किसी अज्ञानी गुरुके आदेशसे किसी शिष्यने ऐसा ध्यान जमा लिया कि मैं महिषा (भैंसा) हूं और ऐसा भैंसा हूँ, जिसके सींग एक एक गजके हैं। बस इस वासनासे भैंसा व आत्माको (अपनेको) एकमेक मान्यतामें करता हुआ वह "अब इस दरवाजेसे कैसे निकलू" इत्यादि संक्लिष्ट भावोंका कर्ता हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ व निज आत्म तत्त्वको एकमेक करता हुआ अज्ञानी जीव भी इन्द्रियजविषय-सम्बन्धिविकल्पोंसे तिरस्कृत होकर ज्ञेयविकल्प ही मैं हूं, ऐसे भावका कर्ता हो जाता है। यह सब कर्तृत्वबुद्धि अज्ञानीकी महिमा है।

१०२—यदि इस ही प्रकारका तथ्य ज्ञात हो जाय तो वह जीव अकर्ता हो जाता है। कर्ता तो जीव अज्ञान भावमें ही होता है। जैसे कि हाथी तृण और मिठाई दोनों भोजन रक्खे हों, तो भी मिलित स्वादके स्वादनकी प्रकृतिसे उनमें भेद विज्ञान न कर दोनोंको एक साथ खा लेता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव भी स्वभाव व परभावमें भेदविज्ञान न करके दोनोंको एकमेक करता हुआ मिलित स्वादका स्वादन करता है, अतश्च भेदविज्ञानकी शक्ति मुद जानेके कारण विभावमात्र अपनेको अनुभव करता है।

१०३—यह जीव अज्ञानवश ज्ञान व ज्ञेयमें भेद नहीं कर पाता अतः ज्ञेयज्ञायक सम्बन्धवश होने वाले प्रवाहमें वह कर ज्ञेयकी ओर

आकर्षित होता है। जैसे कि कोई शिखरिन (दही मीठा मिला हुआ पेय) को पीकर उस स्वादकी गृद्धतासे स्वादभेद न करके गायोंको दुहने लगता अथवा दूध पीने लगता है।

१०४—जैसे कि कोई प्यासा हरिण रेतीली नदीमें दूरकी रेतको पानी समझकर दौड़ लगाता है, उसके समीप पहुंचने पर प्यास बुझनेका तो काम कोई है नहीं, सो आगे फिर देखता है, सो दूरकी रेतका पानी समझकर फिर दौड़ लगाता है, इस पद्धतिमें वह दुःखी हो रहता है। यह क्लेश तभी तक रहता है, जब तक कि वह रेतको रेत नहीं समझ पाता है। इसी प्रकार अज्ञानी प्राणी इन्द्रियविषयभूत ज्ञेय पदार्थोंको अथवा विकल्पोंको हितकारी समझकर उनकी ओर आकर्षित होता है। उसके समीप पहुँचने पर आकुलता दूर होनेका तो काम कोई है ही नहीं, सो भावी विषयोंकी आशा करके फिर उनकी ओर आकर्षित होता। इस पद्धतिमें यह अज्ञानी जीव दुःखी ही रहता है। यह क्लेश तब तक रहता है जब तब यथार्थ वस्तुज्ञान नहीं कर पाता।

१०५—जैसे कोई मनुष्य अज्ञानसे रस्सीमें सांपका भ्रम कर लेवे तो वह इस भ्रमके कारण उस साधारण अन्धेरीमें ही दौड़ भाग व भय करता है। इसी प्रकार अज्ञानी जन भी ज्ञेयपदार्थोंको आत्मा मान अथवा विकल्पोंको आत्मा मानकर नाना सकल्पविकल्प बढ़ाता रहता है।

१०६—यद्यपि यह आत्मा शुद्ध ज्ञानमय है, तो भी जैसे वायुसे प्रेरित होकर समुद्र उछलती हुई तरंगों वाला हो जाता है, इसी प्रकार कर्मविपाकवश हुए अज्ञानसे प्रेरित होकर यह अज्ञानी जीव नाना विकल्पों वाला होता है, आकुलित होता है। इस प्रकार यह अज्ञानी जीव उन कर्मोंका कर्ता होता है।

१०७—यह कर्तृत्व तब तक ही रहता है जब तक निज व परमें भेदज्ञान नहीं कर पाता है। और, जब जैसे कि हंस पानी व दूधके विवेक कर देता है, इसी भांति यह आत्मा निज व पर पदार्थके विशेषको

जान लेता है; उसी समय वह परकी उन्मुखतासे हटकर स्वरसतः निज चैतन्यमात्र वस्तुका अवलम्बन कर लेता है और वह तन मात्र जानता ही है, करता कुछ नहीं है। अथवा वह ज्ञानक्रियाका ही कर्ता होता है।

१०८—जैसे कि आग गर्म है, पानी ठंडा है, ऐसी व्यवस्था करने वाला कौन है? ज्ञान। इसी प्रकार देह व कर्म अचेतन हैं, आत्मा चेतन है, ऐसी व्यवस्था करने वाला कौन? ज्ञान। अथवा जैसे अग्नि सम्बन्ध को निमित्त पाकर गर्म हुए जलमें यह समझकर लेना कि यह गर्मी तो है औपाधिक, संयोगज और यह शीतस्वभाव पानीका स्वरूप है, ऐसी व्यवस्था करने वाला कौन? ज्ञान। इसी प्रकार औपाधिक भाव क्रोधादिक व स्वभावानुरूप विकास ज्ञान इन दोनोंमें भेद है, इस प्रकारकी व्यवस्था करने वाला कौन है? ज्ञान। इस ज्ञानभावका करने वाला क्रोधादिका कर्ता नहीं होता। यह इस ज्ञानीके बड़े ही चमत्कारकी बात है कि वह होते हुए क्रोधादिको भी जानता और निज ज्ञान विकासको जानता है और दोनोंको भिन्न भिन्न रूपसे।

१०९—तथा जैसे नमक मिले हुए पकोड़ी आदि व्यञ्जनोंमें साधारणतया ऐसा स्वाद आता है कि मानों व्यञ्जन ही खारा है, किन्तु उसमें यह समझ बन जाय कि केवल व्यञ्जन तो जैसा है तैसा ही है और यह खारा नमक है, ऐसी व्यवस्था करने वाला कौन? ज्ञान। इसी प्रकार इस आत्मामें कभी क्रोधादिक व ज्ञानविकास दोनोंका उदय होता तो वहां ज्ञानीजन तो भिन्न भिन्न स्वाद जानते हैं कि यह तो क्रोधादिक है और यह ज्ञानभाव है। इसकी व्यवस्था करने वाला कौन? ज्ञान। अज्ञानसे ही यह जीव परको व परभावको अपनाता था। वहां भी परका तो कर्ता था ही नहीं, उस विकल्पका ही कर्ता था। ज्ञानके उदित होनेपर अब उस विकल्प का भी कर्ता नहीं रहता। वास्तवमें आत्मा स्वयं ज्ञानमय है, वह ज्ञानके अतिरिक्त क्या कर सकता। पर द्रव्यका या परभावका कर्ता आत्मा है, यह सोचना या कहना तो व्यवहारीजनोंका व्यामोहमात्र है।

११०—जैसे कि कोई पुरुष अपने विचार व व्यापारसे घटादि पर

द्रव्यको कर देता है, यह प्रतिभास व्यामोह है। इसी प्रकार कोई आत्मा अपनी परिणतिसे कर्मको व देहको कर देता है, ऐसा प्रतिभास अपने स्वभावसे ही क्रोधादिको कर देता है, ऐसा प्रतिभास केवल व्यामोह ही है।

१११—किन्तु उक्त वार्ता सत्य नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा परिणतिसे कर्म नोकर्मको कर देता तो वह कर्म व नोकर्म चैतन्यमय हो जाता। जैसे कि पुरुष अपने विचार व व्यापारसे मिट्टीको घटरूप देता तो वह घट पुरुष व्यापारमय हो जाता।

११२—कर्म व नोकर्मका कर्ता तो आत्मा निमित्तरूपसे भी नहीं है। जैसे कि पुरुष घटका निमित्त रूपसे भी कर्ता नहीं है; पुरुषके उपयोग व व्यापारको तो घट निष्पत्तिमें निमित्त कह सकते हैं, किन्तु पुरुषको निमित्त नहीं कह सकते। इसी प्रकार कर्म, नोकर्मका आत्मा निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं है। आत्माके योग, उपयोगको कर्मबन्धादिमें निमित्त कह सकते हैं, किन्तु आत्मद्रव्यको निमित्त नहीं कह सकते। ये योग और उपयोग अनित्य हैं।

११३—ज्ञानी अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करता है। अतः ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता होता है। जैसे कि कोई डेरी फार्मका मालिक जहां दूध निकल रहा हो, दही जम रहा हो आदि कुछ व्यापार हो वहां वह अध्यक्ष उनमें कुछ करता नहीं है, क्योंकि दूध दही आदि पर्याय तो उस गोरसमें ही व्याप्त हैं। अध्यक्ष तो मात्र अपने आपमें अपना परिणमन करता हुआ देख रहा है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म होते हैं तो वे उन पौद्‌गलिक कार्माणवर्गणा स्कन्धोंमें ही व्याप कर होते हैं, ज्ञानी तो अपने आपमें अपना परिणमन करता हुआ मात्र जानता ही है।

११३—तथा वह डेरी फार्मका अध्यक्ष किसी विरुद्ध हो रहे काम को भी जान लेता है, वह करता नहीं है। इसी तरह ज्ञानी भी राग, द्वेष आदि विरुद्ध कार्योंको भी जानता ही है, करता नहीं है, क्योंकि उसे स्वभाव व विकारका प्रखर भेदविज्ञान हो गया है।

११५—जैसे कि कुम्हार मिट्टीमय घटमें अपना कोई द्रव्य या गुण नहीं रख पाता। उस घटमें तो मिट्टीका द्रव्य व मिट्टीका गुण ही स्वयं वर्तता है। अतः वह कुम्हार घटका कर्ता वास्तवमें है ही नहीं। इसी प्रकार आत्मा पुद्गलमय कर्ममें अपना कोई गुण या द्रव्य रख ही नहीं पाता। कर्ममें तो पुद्गलका ही द्रव्य व पुद्गलका गुण ही स्वयं वर्तता है। अतः आत्मा ज्ञानावरणादिक कर्मका कर्ता वास्तवमें है ही नहीं। इसका कारण यह है कि जो पदार्थ अनादिसे जिस जिस द्रव्य व गुणमें वर्त रहा है, वह उसीमें ही वर्तता है, अन्य द्रव्य या अन्य गुण रूपमें से क्रान्त (परिवर्तित) कभी नहीं हो सकता। वस्तुतः न तो अज्ञानी परभावका कर्ता है और न ज्ञानी परभावका कर्ता है। अज्ञानी कर्तापनेके विकल्पको करता है, ज्ञानी कर्तापनेके विकल्पको नहीं करता।

११६—फिर भी आत्मविभाव व पुद्गल कर्ममें निमित्तनैमित्तिक भाव है। इस आधारपर यदि यह कह दिया जावे कि आत्मा पुद्गल कर्मका कर्ता है, तो यह मात्र उपचार है। जैसे कि युद्धमें युद्ध तो योद्धा (सिपाही) लोग करते हैं, वे ही युद्ध परिणमनसे परिणम रहे हैं, किन्तु राजाके प्रसङ्गसे यह कह दिया जाता है कि राजा युद्ध कर रहा है, राजा तो युद्ध परिणमनसे परिणम ही नहीं रहा। तो यह कहना जैसे उपचार है। इसी प्रकार कर्मरूपसे तो पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें परिणम रही हैं, किन्तु आत्मविभावके प्रसङ्गसे यह कह दिया जाता है कि आत्मा कर्म कर रहा है, आत्मा तो कर्मपरिणमनसे परिणम ही नहीं रहा। तो आत्मा ने कर्म किया, आत्मा कर्म करता है आदि कहना सब उपचार है।

११७—जैसे कि राजा उस लड़ाईके मुकाबिलेको न ग्रहण करता है, न युद्धव्यापार-रूपसे परिणमता है, न युद्धको उत्पन्न करता है, न नया ही आदमी हथियार वगैरह कुछ बना देता है और न योद्धावोंको हथियारों को बांध देता है फिर भी "राजा मुकाबिला ग्रहण करता है, युद्धव्यापार परिणमाता है, युद्ध उत्पन्न करता है, योद्धावोंको करता है, योद्धावोंको हथियारोंको बांधता है" आदि कहना उपचार है। इसी प्रकार आत्मा न

कर्मोंको ग्रहण करता है, न कर्मोंको परिणमाता है, न कर्मोंको उत्पन्न करता है, न कर्मोंको करता है और न कर्मोंको बांधता है, फिर भी "आत्मा कर्मोंको ग्रहण करता है, कर्मोंको परिणमाता है, कर्मोंको उत्पन्न करता है, कर्मोंको करता है, कर्मोंको बांधता है" आदि कहना उपचार है।

११८—और भी देखो प्रजाजन यदि दोषोंमें लगे तो कह दिया जाता है कि इन दोषोंका उत्पादक राजा है और प्रजाजन गुणोंमें लगे तो कह दिया जाता है कि इन गुणोंका उत्पादक राजा है। यद्यपि प्रजाके दोष गुण प्रजामें ही व्याप कर रहते हैं, राजामें व्याप कर नहीं रहते हैं, तो भी मात्र राज्यके प्रसङ्गका आधार पाकर लोक ऐसा कह देते हैं। वह सब उपचारसे कहना है। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यमें गुण दोष आवे, तो पुद्गलके व्याप्यव्यापक भावसे ही आते हैं, किन्तु जीव भाव वहां निमित्त-मात्र है, इस प्रसङ्गका आधार पाकर लोक ऐसा कह देते हैं कि पुद्गल द्रव्यके गुण दोषोंका अथवा पुद्गल द्रव्यका व उसके गुणका उत्पादक आत्मा है। यह सब उपचार मात्र कथन है।

११९—यहां प्रश्न होता है कि पुद्गल कर्मका उत्पादक आत्मा नहीं है तो कौन है? उत्तर-पुद्गल भी द्रव्य है, अतः उसमें भी परिणमन शक्ति है, सो जीवविभावका निमित्त पाकर योग्य पुद्गल द्रव्य स्वयं पुद्गल कर्मरूप परिणम जाता है। जैसे कि कलशरूपसे परिणत होने वाली मिट्टी स्वयं कलशरूप परिणम जाती है। इस तरह पुद्गलकर्मका कर्ता निश्चयसे वही पुद्गल द्रव्य हुआ।

१२०—इसी प्रसङ्गमें यह भी प्रश्न उठ सकता है कि जीवविभाव (रागादि) का कर्ता कौन है? उत्तर-जीव भी द्रव्य है, वह भी परिणमन स्वभावी है। अतः कर्मोदयको निमित्तमात्र पाकर जीव स्वयं रागादि विभावरूप परिणम जाता है। सो यह जीव जब क्रोधमें उपयुक्त होता है, तब यह क्रोधरूप होता है. जब मानादिमें उपयुक्त होता है, तब मानादिरूप जाता है। जैसे कि गरुडके ध्यानमें परिणत हुआ मनुष्य स्वयं गरुड

की तरह चेष्टावाला हो जाता है। इस तरह निश्चयसे जीवविभावका कर्ता जीव हुआ।

१२१—यदि जीव ज्ञानी है तो वह ज्ञानमयभावका कर्ता होता है, यदि अज्ञानी जीव है तो अज्ञानमय भावका कर्ता होना है, क्योंकि ज्ञानी आत्मासे ज्ञानमय ही भाव होते, अज्ञानी आत्मासे अज्ञानमय ही भाव होते हैं। जैसे कि सुवर्णसे बनने वाले आभूषण सुवर्णमय ही होते हैं और लोहेसे बनने वाले कड़े आदि लोहेमय ही होते हैं।

१२२—जीवका परिणमन पुद्गल द्रव्यसे पृथक् है और पुद्गल द्रव्यका परिणमन जीवसे पृथक है। यदि निमित्तभूत उदय-प्राप्त पुद्गल कर्मके साथ ही जीवका रागादि परिणाम हो जावे तो जीव व पुद्गल कर्म इन दोनोंमें ही रागादि अज्ञानका परिणमन होना चाहिये। जैसे कि मिलाये गये चूना और हल्दी इन दोनोंमे ललाईका परिणमन हो जाता है। किन्तु, यहां तो अकेले जीवमें ही रागादि अज्ञानका परिणमन होता है, इससे यह बात सिद्ध ही है कि जीवका रागादि परिणमन निमित्तभूत पुद्गलकर्मसे पृथक् ही है।

१२३—इसी तरह यदि निमित्तभूत रागादि अज्ञान परिणत जीव के साथ ही पुद्गल द्रव्यका कर्म परिणमन हो जाय तो पुद्गल द्रव्य और जीव इन दोनोंका कर्मपरिणमन होना पड़ेगा। जैसे कि मिलाये गये हल्दी व चूना इन दोनोंका एक साथ ललाईका परिणमन हो जाता है। किन्तु कर्मत्व परिणमन अकेले पुद्गल द्रव्यका ही होता है, अतः पुद्गल द्रव्यका कर्मपरिणमन निमित्तभूत जीवविभावसे पृथक् ही है।

१२४—अथवा अभिन्न कर्तृकर्मताका विकल्प भी व्यवहारनय है और अकर्ताका अभिप्राय निश्चयनय है। तिस पर भी कर्ताका विकल्प करना या अकर्ताका विकल्प करना ये दोनों नयपक्ष हैं, दोनों विकल्प इन्द्रजालवत् असार हैं। जैसे इन्द्रजालका रूप रंग आदि सब दिखनेमात्र को है, अध्रुव है, इसी प्रकार ये भी समस्त विकल्प कल्पनामात्र हैं, अध्रुव हैं। जो इन दोनों (समस्त) प्रकारके विकल्पोंसे याने समस्त नयपक्षोंसे परे हो

जाता है, वही समयसारका अनुभव करता है।

१२५—जिसके निष्पन्न तत्त्वज्ञानका विकास ही समस्त इन्द्रजाल (विकल्पजाल) को नष्ट कर देता है, वह चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ। इस परमपारिणामिक भावका परिचय पा लेने वाले ज्ञानीके परपदार्थके परिग्रहण करनेमें उत्सुकता नहीं रहती है, अतः वह वस्तुस्वरूप व विकल्पोंका स्वरूप ही जानता है, किन्तु नित्य उदित चिन्मय स्वभावमें उपयुक्त होनेसे उस समय वह स्वयं विज्ञानघनभूत है, अतः वह किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता। जैसे कि भगवान् केवल ज्ञानी देव विश्व ज्ञाता होनेसे वस्तुस्वरूप व विकल्पादि पर्यायोंका स्वरूप ही जानते हैं, किन्तु स्वयं विज्ञानघनभूत होनेके कारण किसी भी नयपक्षके परिग्रहका अत्यन्त अभाव है, अतः किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते।

१२६—इस जीवके अनादिसे अब तक मतिज्ञान श्रुतज्ञानके परिणाम व प्रवाह रूपसे चले आये। सो ये उठे तो स्वभावमें से परन्तु मिथ्यात्वके उदयवश अपने स्रोतका विलास छोड़कर इन्द्रिय व मन द्वारसे परके विलासकी वुद्धिमें उपयुक्त रहे, विकल्प जालमें भ्रमण करते रहे। जब प्रज्ञावलसे आत्माको ज्ञानानन्दस्वभावी निश्चित कर लेता है, तब परसे लौट कर आत्माके अभिमुख होकर ये ज्ञान आत्मविलास करते हैं व निर्विकल्प होकर समयसार (स्व) का संवेदन करते हैं। जैसे कि समुद्र का जल समुद्रमें शोभा देता है, वही जल रविके प्रखर किरणोंके संयोगवश अपने स्थानसे च्युत होकर व सघन होकर यत्र तत्र बादलोंके रूपमें घूमता रहता है। जब वही जल तरल स्वभावमें आता है, तब वरसकर व समुद्र के अनुकूल निम्न पथसे वह कर समुद्रमें मिल जाता है।

इति कर्तृकर्माधिकार समाप्त

पुण्यपापाधिकार

१२७—इस तरह निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी केवल एक

किसी भी वस्तुपर दृष्टि रहनेसे आत्मा वस्तु-स्वरूपपर पहुँचता है। जीव केवल अपने परिणामका कर्ता होता है। जीवके विभाव परिणामको निमित्त पाकर पुद्गल कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम जाते हैं। पुद्गल द्रव्य जो कर्मरूप परिणम जाते हैं, वे कर्म सभी आत्मस्वभावके विरुद्ध हैं, तो भी उनमें जो प्रकृति पड़ी है, उसकी संक्षिप्त अपेक्षासे वे दो प्रकारके हैं, १-शुभ कर्म, २-अशुभ कर्म। शुभ कर्मका अपर नाम है पुण्य कर्म, अशुभ कर्मका अपर नाम है पाप कर्म। देखो हैं ये दोनों कर्म ही, किन्तु जैसे एक शूद्रीके उदरसे उत्पन्न हुए दो बालक हैं, वे किसी कारण जन्मते ही, घरसे बिछुड़ जांय, उनमें से एक तो ब्राह्मणीके हाथ लगे और उसके यहाँ पले और दूसरा शूद्रीके हाथ लगे और उसके यहां पले, तो कुल संस्कारवश दोनोंकी प्रवृत्ति भिन्न भिन्न हो जाती है। एक तो "मैं ब्राह्मण हूँ मुझे मदिरासे दूर ही रहना चाहिये" इस तरह ब्राह्मणत्वके अभिमानसे मदिराको दूरसे ही छोड़ देता है और दूसरा "मै शूद्र हूँ" इस प्रकार शूद्रत्वके अध्यवसानसे मदिरासे नित्य स्नान करता है, मदिरा को पीता रहता है। हैं वास्तवमें दोनों शूद्रसे जाये व शूद्र। पुण्य कर्मकी प्रकृति साताविकल्पमें निमित्त होनेकी पड़ जाती है व पाप कर्मकी प्रकृति असाताविकल्पमें निमित्त पड़ जाती है। वस्तुतः दोनों कुशील ही हैं।

१२८—जैसे चाहे सोनेकी बेड़ी हो और चाहे लोहेकी बेड़ी हो, कैदीके लिये दोनों एकसे ही बन्धन हैं। इसी प्रकार चाहे पुण्यकर्म हो और चाहे पाप कर्म हो संसारी जीवके लिये दोनों बन्धन हैं। कोई कर्म कुशील है व कोई कर्म सुशील है, ऐसा विपाककी अपेक्षा कहा जाता है, किन्तु जब दोनों कर्मोंका कार्य संसारभाव है, तब कोई कुशील व कोई सुशील ऐसा भेद क्यों ? सभी कर्म कुशील ही हैं। सभी कर्मोंका हेतु अज्ञानभाव है, सभी कर्मोंका स्वभाव जड़पना है, सभी कर्मोंका अनुभव पौद्गलिक है, सभी कर्म बन्धमार्ग हैं।

१२९—शुभ व अशुभ (पुण्य, पाप) दोनों ही कर्म कुशील हैं, इनका व इनके कारणरूप विभावोंका राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिये।

जैसे कि करेणु कुट्टिनी चाहे सुन्दर वनी हो, चाहे असुन्दर वनी हो, कुशील है याने धोखा देकर गिराने वाली है, अतः बुद्धिमान वनहस्तीको उसका राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिये। वनहस्तीको हथयानेके लिये शिकारी लोग वनमें एक गड्ढा खोदकर उस पर वांसोंकी पंचे विछाकर जमीन जैसे रगवाले कागजसे मढते हैं और उसपर एक वांस व कागजोंकी सुन्दर रचनामें झूंठी हस्तिनी तैयार कर देते हैं। यह झूंठी हस्तिनी सुन्दर भी वने तो भी कुशील है याने गड्ढेमें गिरानेकी कारण है। बुद्धिमान वनहस्तीको चाहिये इस कुशील करेणुकुट्टिनीका न तो मन से राग करे और न वचनसे व कायसे संसर्ग करे। इसी प्रकार पुण्य कर्म भी धोखा देकर गड्ढेमे गिराने वाली है व पापकर्म तो दुःख देनेकी प्रकृति वाला है ही, सो दोनों कर्म कुशील हैं। इनका राग व संसर्ग नहीं करना चाहिये।

१३०—जैसे कि वह करेणु कुट्टिनी सुन्दर भी हो व चटुलमुखी भी हो तो भी हस्तीको वंधके लिये खींचने वाली है। इसी प्रकार कोई कर्म (पुण्य कर्म) इष्टभोग समागम देने वाला हो व सुखकारी भी हो तो भी जीवको वन्धके लिये खींचने वाला है। अतः उसका भी राग संसर्ग छोड़ देना चाहिये। पाप कर्म भी जीवको वन्धके लिये खींचने वाला है, उसका भी राग व ससर्ग छोड़ देना चाहिये।

१३१—सभी प्रकारका राग ही जीवका वन्धन है। जो रागरहित होता है, वही कर्मोसे मुक्त होता है। रागरहित अवस्था ज्ञानमय अवस्था है। अतः ज्ञान ही मोक्षका हेतु है। इस परमार्थभूत ज्ञानके विना व्रत व तप वालव्रत व वालतप कहलाते हैं। परमार्थभूत ज्ञानकी दृष्टिसे रहित पुरुष ही पुण्यकी चाह करते हैं व पापमें प्रवृत्त होते हैं। ये सभी कर्म मोक्षके कारणका आवरण करते हैं। ज्ञानका सम्यक्त्व मोक्षका कारण है। यह स्वभाव परभावभूत मिथ्यात्व कर्मके उदयसे प्रकट नहीं हो पाता। जैसे कि यद्यपि श्वेत वस्त्रका स्वभाव श्वेतपना है, तो भी परभावभूत मलके आनेसे प्रकट नहीं हो पाता।

१३२—ज्ञानका ज्ञान मोक्षका कारण है। यह स्वभाव भी परभाव-

भूत ज्ञानावरण कर्मके उदयसे प्रकट नहीं हो पाता। जैसे कि श्वेत वस्त्र का स्वच्छत्व स्वभाव है तो भी परभावभूत मलके आनेसे वह प्रकट नहीं हो पाता।

१३३—ज्ञानका चारित्र भी मोक्षका हेतु है। यह स्वभाव भी चारित्र मोह कर्मके उदयसे प्रकट नहीं हो पाता। जैसे कि श्वेत वस्त्रका स्वभाव स्वच्छता है, किन्तु परभावभूत मलके आनेसे प्रकट नहीं हो पाते। ये तीनों तत्त्व याने सम्यग्दर्शन, (ज्ञानका सम्यक्त्व), सम्यग्ज्ञान (ज्ञानका ज्ञान), सम्यक्चारित्र (ज्ञानका चारित्र) भिन्न भिन्न रूपमें मोक्षके कारण नहीं है, किन्तु एक रूपमें मोक्षके कारण हैं। अतः अभेदविवक्षामें ज्ञान ही मोक्षका कारण है। इस ज्ञानके विकासके बाधक निमित्त सभी कर्म हैं। अतः सभी कर्मोंका त्याग कर देना चाहिये। कर्मोंका त्याग यही है कि कर्मके हेतुभूत जीवकर्म (विभाव) में व कर्मके फलभूत परिणाममें व इष्ट समागममें राग व संसर्ग न करे।

इति पुण्यपापाधिकार समाप्त

——❀——
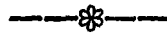
आस्रवाधिकार

१३४—पुण्य पापके आस्रव (आने) का कारण राग, द्वेष, मोह, भाव है। इन दोनो प्रकारके याने कर्मास्रव व जीवास्रव (रागादिभाव) का निरोध ज्ञानभावसे होता है। ज्ञानभावके अभावमें अज्ञानमय भाव होता है, जो राग, द्वेष, मोह, भावके सम्पर्कमें भाव होता है, वह सब अज्ञानमय भाव है। यह अज्ञानमय भाव आत्माको कर्म करनेके लिये प्रेरित करता है। जैसे कि चुम्बक पत्थरके सम्पर्कमें जायमान प्रभाव लोहेकी सूचीको आकर्षित होनेको प्रेरित करता है।

१३५—और, जैसे चुम्बक पत्थर हट जाय तो उस वियोगसे होने वाली स्थिति लोहेकी सूचीको स्थित रहने देती है। इसी प्रकार रागादि आस्रवसे भिन्न स्वभावी चैतन्यमात्र आत्माके विवेकसे होने वाला ज्ञानमय

भाव आत्माको स्वभावसे ही कर्म करनेकी उत्सुकताके अभावकी स्थितिको स्थापित करता है। सो रागादिसंकीर्ण भाव आत्माको कर्तृत्वमें प्रेरक होनेसे वन्धक है व रागादिसे असंकीर्णभाव याने ज्ञानमय भाव स्वभावका उद्भासक होनेसे केवल ज्ञायक है, वन्धक नहीं होना।

१३६—जैसे पका फल पेड़के ढंठलसे गिर जाय तो फिर ढंठलके सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार जो कर्मभाव अथवा कर्मोदयज भाव स्थानसे वियुक्त हुआ, वह फिर जीवमें सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता। इस तरह ज्ञानमय भाव रागादिसे असंकीर्ण हो जाता है।

१३७—अज्ञान अवस्थामें जो कर्म वद्ध हो गये थे, वे ज्ञानी जीवके आत्माके साथ वादमें भी कुछ समय तक रहते हैं, किन्तु वे अब ऐसे हैं जैसे कि पड़ा हुआ मिट्टीका पिण्ड। पड़ा हुआ मिट्टीका पिण्ड कुछ विभावका कारण नहीं होना। इसी तरह वे कर्म कर्माणशरीरसे ही वधे हैं याने कार्माणपिण्ड है, वह उपयोगसे या ज्ञानी आत्मासे नहीं वंधा है। तात्पर्य यह है कि जहां भावास्रव दूर हुआ कि द्रव्यास्रव तो स्वतः ही भिन्न था, अब आत्मा निरास्रव हो गया, शुद्ध ज्ञायक हो गया।

१३८—यद्यपि किसी अवस्था (गुणस्थान) तक ज्ञानी जीवके भी कर्म-वन्ध होता है, परन्तु वह ज्ञानीकी दशाके कारण नहीं, किन्तु उस जीवके जो राग विभाव शेष है, उसके कारण। वह राग वुद्धिपूर्वक नहीं है, इसलिये आस्रवका निषेध है, किन्तु वह ज्ञान-दशा जघन्य है, इससे अनुमान होता है कि अवुद्धिपूर्वक विभाव कलङ्क अवश्य है, यही आस्रव का वहां हेतु है। अतः तव तक अपनेको ज्ञानभावना होना चाहिये जव तव कि पूर्ण ज्ञानघन हो जाय। यहां पर आशंका होती है कि जव उसके अवुद्धिपूर्वक विपाक है, वद्ध कर्मोंका सत्त्व है, उसका भी तो उदय होगा, तव उस ज्ञानीको निरास्रव क्यों कहा गया? समाधान यह है कि जैसे किसी पुरुषका वाला स्त्रीसे विवाह हुआ तो इस अवस्थामें तो वह उपभोग के योग्य होती ही नहीं। जव यह वाला तरुण अवस्था पावेगी तव पुरुपके रागानुसार उपभोगने योग्य होगी। इस अवस्थामें यदि पुरुषके वैराग्यभाव

ावे तब वह निरुपभोग ही रह गई। इसी प्रकार जिन कर्मोंका बन्ध
ज्ञान अवस्थामें हुआ उन कर्मोंका सत्त्व तो इस समय है, किन्तु वे कर्म
पाकानुभवके योग्य तो तब होंगे जब उनका उदयकाल आवेगा। जब
नका उदयकाल आवेगा उस समय आत्माके रागभावके अनुसार विपा-
ानुभवके योग्य होंगे। यदि उस समय आत्मा तत्त्व-ज्ञानके बलसे
वैरागभावके उन्मुख रहा, तब वे कर्म निरुपभोग होकर ही खिर जांयगे।
प्रथवा जो उदयमें आवेंगे वे जीवविभाव राग, द्वेष, मोहका निमित्त
हीं पावेंगे, तो वे नवीन आस्रवके कैसे कारण होंगे? अथवा जो जीव
चौथे व चौथेसे ऊपर १० वे गुणस्थान तक जिस गुणस्थानमें है उसके
ज्ञान वैराग्यके अनुसार अनन्तानुबन्धी आदि कर्मोंका बन्ध होता ही
नहीं।

१३९—रागादिभावास्रवके बिना नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता।
हां तत्त्वज्ञ आत्मा ही कदाचित् तत्त्वज्ञतासे च्युत हो जाय तो रागादिभाव
का निमित्त पाकर पूर्वबद्ध कर्मोदय आस्रव बन्धका कारण हो जायगा।
अथवा जो जीव शुद्ध तत्त्वके परिचयसे दूर हैं, उन बहिर्मुख जावोंके
पूर्वबद्ध कर्मोदय नवीन कर्मबन्धोंको करते हैं। सो जैसे किसी पुरुषने
भोजन किया तब वह पेटमें गया भोजन उदराग्निका निमित्त पाकर माँस,
वसा, रुधिर आदि अनेक रूप परिणम जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी
जीवके अथवा तत्त्वज्ञानसे च्युत हुए जीवके कर्मविपाकमें जो कर्म बंधते
हैं वे रागादि भावके अनुसार ज्ञानावरणादि अनेक प्रकारमें परिणम जाते
हैं। जिस तत्त्वज्ञानके अभावमे कर्मबन्ध होता है वह तत्त्वज्ञान शुद्धनयके
आशयसे प्रकट होता है, अतः मुमुक्षुवोंको निज शुद्ध आत्माको अभेदरूप
में ग्रहण करने वाले शुद्धनयसे च्युत नहीं होना चाहिये। निर्विकल्प
समाधिमें शुद्धनयका आशय स्वयं छूट जाता है, वह तो शुद्धनयका फल
ही है।

इति आस्रवाधिकार समाप्त

——:※:——

संवराधिकार

१४०—आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं। संवरका मूल विपरीत-आशय रहित न है। भेदविज्ञानके प्रसङ्गमें जो बातें आती हैं वे ४ हैं—आत्मा, भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म (शारीरादि)। यहां यह जिस दृष्टिमें दिखे कि आत्मामें (उपयोगमें) ही आत्मा है, इसमें क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्म नहीं हैं और न इनमें शुद्ध आत्मा है। खुद ही आहार है व खुद ही आधेय है। जैसे कि आकाश द्रव्य आकाशमें ही प्रतिष्ठित है, उसमें परकी न अधारता है और न आधेयता है। इसी प्रकार ज्ञानमें कहो या अभेदनयसे आत्मामें कहो, खुदमें खुदकी उठाधारता है व खुदकी आधेयता है। यहां मुख्यरूपसे यह भेदविज्ञान दृष्टिमें लेना है कि क्रोध आदिमें उपयोग नहीं, उपयोगमें क्रोधादि नहीं, क्रोधादि क्रुध्यतादिस्वरूपमें है, ज्ञान जाननतास्वरूपमें है। इस भेदविज्ञान वलसे क्रोधादिको हेय व ज्ञानको उपादेय देखा जाना है। इसके प्रसादसे उपादेयताका भी विकल्प छूटकर शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है, शुद्धात्माकी उपलब्धिसे राग, द्वेप, मोहका अभाव होना है, यही अवस्था संवर तत्त्व है।

१४१—जिस आत्माके उक्त प्रकारसे भेदविज्ञान हो जाना है, उसके ऐसा दृढ़नम अववोध रहता है कि जैसे तीव्र संतप्त अग्निमें तपाया गया भी सोना अपने सुवर्णपनेको नहीं त्यागता इसी प्रकार तीव्र कर्मविपाकसे युक्त होनेपर भी ज्ञान अपने ज्ञानस्वभावको नहीं त्यागता। यदि त्याग दे तो वस्तु तो स्वभावमात्र है स्वभावके त्यागते ही वस्तुका नाश हो जायगा। ऐसा जानता हुआ कर्मसे आक्रान्त होनेपर भी ज्ञानी राग, द्वेष, मोहको प्राप्त नहीं होता अपितु शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है।

१४२—यहां आशंका हो सकती है कि आत्मा तो इस समय परोक्ष है, उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है ? समाधान यह है कि परोक्ष भी कोई रूपी पदार्थ परके उपदेशसे लिखे गये रूपको देखकर जैसे

कोई पुरुष जान लेता है, वैसे ही उपदेशादिसे "मैंने जीव देखा जाना" इत्यादि रूपसे अवधारित कर लिया जाता है। तथा यह स्वसंवेदनरूप भावज्ञान यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष है तो भी इन्द्रियजन्य सविकल्प ज्ञानकी अपेक्षा ता प्रत्यक्ष है ही। अथवा पहिले समयमें भी तो इसी प्रक्रियासे आत्माको ग्रहण करते थे। दिव्य ध्वनिके द्वारा अथवा अन्य उपदेशादिसे तो केवल कुछ कहा हो तो जाता था, ग्रहण करना तो स्वसंवेदन ज्ञानसे ही होता था।

इस शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिसे मिथ्यात्वादि भावोंका अभाव है। उसका अभाव होने पर रागादिका अभाव होता है। उसके अभाव होने पर कर्मका अभाव हो जाता है। उसके अभाव होने पर शरीरका अभाव हो जाता है। शरीरका अभाव होने पर संसारका अभाव होता है। संसार ही दुःख है संसारके अभावमें सर्व दुःखोंका अभाव है। यहाँ शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिका मूल कारण भेदविज्ञान है। अतः सर्वयत्नसे भेदविज्ञानकी भावना करना चाहिये।

इति संवराधिकार समाप्त

——:❀:——

निर्जराधिकार

१४३—विकारके झड़नेको निर्जरा कहते हैं। निर्जरा दो प्रकारकी है (१) भाव निर्जरा, (२) द्रव्य निर्जरा। ज्ञानी जीवके निर्जरा तो संवर पूर्वक होती है और अज्ञानी जीवके निर्जरा बन्धपूर्वक होती है अर्थात् ज्ञानी जीवके कर्मनिर्जरा व भावनिर्जरा (विभावका होकर व्यय होना) अन्य बन्धको नहीं बढ़ाती किन्तु मिथ्यादृष्टिके कर्मनिर्जरा (उदय या उदीरणा) व भावनिर्जरा (विभावका उन्मग्न होकर निमग्न होना) अन्य कर्म बन्धका कारण बन जाती है। जैसे कि हाथीका स्नान और धूल चिपटनेका कारण ही बन जाता है और हाथी सूंडोंसे धूल ग्रहण कर कर सारे शरीरको धूसरित कर देता है।

१५४—तथा, जैसे कोई तस्कर (चोर) कोतवालके द्वारा गिरफ्तार हो जाय अन्तमें मरणादिका क्लेश सुना दिया जाय तो यद्यपि वह तस्कर मरणादिक नहीं चाहता है तो भी मरणादिका अनुभव करता ही है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि आत्मीय सुखको उपादेय व विषय सुखको हेय जानता है तो भी कर्मविपाकरूपी कोतवाल द्वारा गिरफ्तार हुआ यह विना रतिके विषय सुखादिका अनुभव करता है। इसी कारण ज्ञानीकी यह निर्जरा अथवा उपभोग बन्धके लिये नहीं होता, प्रत्युत निर्जराके निमित्त ही होता है।

१५५—जैसे कि विषका पान जनरली मरणका कारण होता है, लेकिन विषवैद्य विषका पान करता हुआ भी मंत्र औषधि आदिकी सामर्थ्यसे मरणको प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार पुद्गल कर्मका उदय अज्ञानी जीवके रागका सद्भाव होनेसे बन्धका कारण होता है, लेकिन ज्ञानी जीवके रागादि अज्ञानमय भाव न होनेसे ज्ञानके सामर्थ्यसे पुद्गल कर्मका उदय भोगता हुआ भी बन्धको प्राप्त नहीं होता।

१५६—तथा, जैसे कोई पुरुष रोगके प्रतीकारके निमित्त मद्यमें मद्यकी विरोधी कुछ औषधि डालकर पीता है तो वह मद्यपानके रागके अभावके कारण मतवाला नहीं होता। इसी प्रकार कर्मविपाकज वेदनाके प्रतीकारके निमित्त तत्त्वप्रतीतिसहित वर्त्तकर पञ्चेन्द्रियके विषयभूत भोजनादि पुद्गल द्रव्यके उपभोग होनेपर भी तत्त्वज्ञानी उपभोगमें प्रतीतिमें तो सर्वथा रागका अभाव होनेसे व चर्यामें यथायोग्य रागका अभाव होनेसे मतवाला नहीं होता।

१५७—तथा, जैसे किसीके घर विवाहादि प्रकरण (function) में दूसरे घरसे आये हुए पुरुषके भी विवाहादि प्रकरणमें करने योग्य चेष्टा होती है तो भी उस प्रकरणका राग न होनेसे वह अप्राकरणिक है। इसी प्रकार निर्विकार निज शुद्धात्म तत्त्वका प्रत्यय करने वाला ज्ञानी अपने गुणस्थानके योग्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंको सेवता हुआ भी उस वृत्तिका [illegible] न होनेसे असेवक है। और, विवाहके घर वाला पुरुष कार्यव्यासङ्गसे

गीतादि विवाह चेष्टाको नहीं कर रहा है तो भी विवाह प्रकरणका राग होनेसे वह प्राकरणिक है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव उपभोग न मिलनेसे या अन्य कार्यव्यासक्तसे विषयको न भी सेवता हो तो भी वह सेवक है।

१४८—सम्यग्दृष्टि जीवके पूर्ववद्ध कर्मविपाकसे राग विभाव आता है तो भी वह यही जानता है कि यह कर्मोदयनिमित्तक भाव है, मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो शुद्ध ज्ञायक भावमात्र हूँ। जैसे कि स्फटिक पाषाणमें पर डाककी उपाधिसे उत्पन्न जो लालिमादि है वह औपाधिकभाव है, स्फटिकका स्वभाव भाव नहीं है, वह तो निज-स्वच्छतामय है।

१४९—आत्माका विशुद्ध स्वभाव ही आत्माका उत्कृष्ट पद है। समस्त अस्थिर (विनाशिक) भावोंको याने द्रव्यकर्म व भावकर्म (विभाव) को छोड़ करके एक इस ही एक ज्ञानभावका अवलम्बन करना चाहिये। यद्यपि इस ज्ञानभावके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान ये सब परिणमन हैं, किन्तु वह सब निश्चयसे एक ही पद है। जैसे मेघपटलका कम अधिक आवरण होनेके कारण सूर्यको भी प्रकाशभेद होते हैं, प्रकाशभेदोंके कारण सूर्यमें भेद नहीं हो जाता, सूर्य तो एक ही है, वल्कि वे प्रकाशभेद भी सूर्यकी एकताका ही सकेत करावे हैं। इसी प्रकार कर्मपटलका कम अधिक आवरण होनेके कारण ज्ञानके भी जानन-भेद होते हैं किन्तु उन ज्ञानातिशय भेदोंके कारण ज्ञानस्वभावमें भेद नहीं हो जाता, ज्ञानस्वभाव तो वही एक है। वल्कि वे ज्ञानातिशयभेद भी ज्ञानस्वभावकी एकताका संकेत कराते हैं।

१५०—जैसे एक रत्नाकर समुद्रमें छोटी वड़ी अनेक लहरें उठती हैं वे सब एक जलरूप ही हैं। इसी तरह यह चैतन्य रत्नाकर एक ही है, इसमें कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अनेक भेद अपने आप व्यक्तिरूप होकर प्रकट होते हैं, वे व्यक्तियां एक ज्ञानरूप ही हैं।

१५१—जिस आत्माने इस निज ज्ञायक स्वभावका परिचय किया

उसके इच्छाभावरूप अज्ञानमयभाव नहीं रहता और इसी कारण वह अन्य पदार्थोंका व परभावोंका ज्ञाता तो रहता है किन्तु ज्ञेय पदार्थमें तन्मय नहीं होता अतः वह निष्परिग्रह होता है। जैसे कि दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब है उसका देखने वाला ज्ञाता तो रहता किन्तु उस प्रतिबिम्बसे तन्मय नहीं हो जाता। इस तरह यह ज्ञानी पुण्य (शुभोपयोगरूप धर्म) का, पाप (विषय कषाय रूप अधर्म) का, अशनपानका, उपभोगका ज्ञायक रहता है, परिग्रही नहीं होता है।

१५२—ज्ञानी जीव न बंधके निमित्तभूत रागादिभावोंमें राग करता है और न उपभोगके निमित्तभूत सुख दुःखादिक भावोंमें राग करता है। यहां यह विशेष ध्यान देनेकी बात है कि बन्धके निमित्तभूत भाव तो ज्ञानीके होता ही नहीं, उपभोगका निमित्तभूत भाव कदाचित् होता है। तात्पर्य यह है कि भोगनिमित्त थोड़ा पाप तो ज्ञानीके कदाचित् हो जाता है सो वहां भी ज्ञान व वैराग्यके सामर्थ्यसे अबन्ध रहता है, बन्ध-निमित्तभूत मिथ्यात्वादि भाव तो होते ही नहीं हैं। निष्प्रयोजन अपध्यान बन्ध निमित्तभूत भाव है। ज्ञानी यह पाप नहीं बांधता, जैसे कि इस अपध्यानसे शालिमत्स्य बहुत पाप बांधता है।

१५३—ज्ञानी जीवके उपभोग कर्ममें राग रस नहीं आता अतः ज्ञानी परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता। जैसे कि जो वस्त्र लोध फिटकरीसे नहीं भिगोया है उसपर रंगका मेल बाहर ही लोटता है, वस्त्रमें दृढ़ जमता नहीं है।

१५४—ज्ञानी जीव समस्त राग रससे दूर रहनेके स्वभाव वाला है अतः उपभोग अथवा कर्मके मध्य पड़ा हुआ भी उपभोग अथवा कर्मसे लिप्त नहीं होता है। जैसे कि सुवर्ण कीचड़ अथवा जंगसे छूटे रहनेके स्वभाव वाला है अतः वह कीचड़ अथवा जंगसे लिप्त नहीं होता है।

१५५—अज्ञानी जीव रागरससे लिप्त होनेकी प्रकृति वाला है अतः उपभोग अथवा कर्मके मध्य पड़ा हुआ कर्मसे लिप्त हो जाता है। जैसे कि लोहा कीचड़ अथवा जंगसे लिप्त हो लेनेके स्वभाव वाला है

अतः वह कीचड़ अथवा जंगसे लिप्त हो जाता है।

१५६—जैसे धौंकनी द्वारा आगसे धौंक गये सिंदूर व शीसा सहित लोहा पुण्योदय होनेपर किट्ट कालिका मैलसे रहित होकर सुवर्ण हो जाता है। इसी प्रकार तपस्या रूपी धौंकनी द्वारा ध्यानरूपी अग्निसे धौंका गया याने तपाया गया रत्नत्रयकी औषधि सहित यह लोहास्थानीय यह जीव किट्टस्थानीय कर्म व कालिकास्थानीय रागादिभावसे रहित होकर मुक्त हो जाता है।

१५७—परद्रव्यका उपभोग ज्ञानीके अज्ञानमय भावको उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि परपदार्थ अन्य परके भाव बनानेमें कारण नहीं है। ज्ञानी हो यदि ज्ञानभावसे च्युत होकर अज्ञानी रूपसे परिणमने लगे तो चाहे परद्रव्य भोगे या न भोगे स्वयं अज्ञानरूप हो गया। इस कारण यह बात सुसिद्ध है कि ज्ञानी जीवके परके अपराधसे याने उपभोगके कारण बन्ध नहीं होता किन्तु जब बन्ध होगा तब स्वके अपराधसे होगा। जैसे कि शख जीवका शरीर श्वेत है वह कैसे ही पर द्रव्य (काली, पीली मिट्टी आदि) को भोगे उससे वह काला नहीं हो सकता। हां वही शंख शरीर यदि श्वेतपनेको छोड़ कर काले रूपमें परिणम जावे तो वह पर द्रव्य को भोगे या न भोगे स्वयं काला हो जायगा।

१५८—अज्ञानी जीव आगामी पुण्य सुख चाहनेके लिये व्रत, तप आदि करता है तो उससे उपार्जित पापानुबन्धी पुण्य भविष्यमें भोगोंको देता है। जैसे कि कोई पुरुष आजीविकाके लिये राजाकी सेवा करता है तो राजा उसे आजीविका देता है।

१५९—अथवा कोई ज्ञानी जीव निर्विकल्प समाधिके अभावमें विषय कषायकी आपदासे बचनेके लिये व्रत, शील, उपवास, तप आदि करता है। वह पुण्यसुखकी चाहसे नहीं करता है। सो उसके यद्यपि पुण्यबन्ध होता है किन्तु आगामी भवमें उसके उदयकालमें भी वह ज्ञानी होता हुआ रागादि फलको नहीं पाता और मिले हुए पुण्य समागमसे विरक्त हो मोक्षमार्गका सेवन करता है। जैसे कि भरत चक्रवर्ती आदि

महापुरुषोंने किया है।

१६०—ज्ञानी जीव कर्मका फल ही नहीं चाहते, इसलिये कदाचित् ज्ञानीको पूर्वार्जित कर्मविपाकको भोगना भी पड़े तो उस समय होने वाली चेष्टाका कोई फल नहीं चाहता और 'ऐसी चेष्टा हो' यह भी नहीं चाहता, यही कारण है कि वह कर्म या क्रियाफलको नहीं देती है। अथवा, जो कर्मका फल नहीं चाहता उसे कर्म फल नहीं देते। जैसे कोई पुरुष नौकरीके लिये राजाकी सेवा करता है तो राजा उसे नौकरी (वेतन) देता है और जो नौकरीकी चाहसे राजाकी सेवा नहीं करना है उसे राजा नौकरी नहीं देता है।

१६१—ज्ञानी जीव सर्व भयोंसे रहित होते हैं, क्योंकि उनके आत्मा व पर द्रव्योंके स्वरूपसत्त्वकी दृढ़ प्रतीति होती है। यही कारण है कि वे सदा निःशङ्क रहते हैं और कदाचित् घोर उपसर्ग व परीषह भी आ जाय तो भी ज्ञानी ज्ञानोपासनासे चिगते नहीं। जैसे कि पाण्डव आदि महापुरुष कठिन उपसर्ग आने पर भी नहीं चिगे।

१६२—ज्ञानी जीव कर्मफलोंकी (सुखोंकी) वाञ्छा नहीं करते हैं, क्योंकि उन्हें स्वरूपसत्त्वकी दृढ़ प्रतीति है, आनन्दमय आत्मा है उसके अवलम्बनसे ही शुद्ध आनन्दविकासके होनेका उनके विशद अनुभव है। उपसर्ग या आराम सुविधा होने पर भी ज्ञानोपासनासे नहीं चिगते हैं। जैसे कि अनन्तमती कितने ही फुसलाये जाने अथवा ताड़े जाने पर भी विषय सुखकी ओर नहीं गई।

१६३—प्रमत्त ज्ञानी जीवकी रुचि रत्नत्रय भावकी ओर रहती है, जिससे वे रत्नत्रयसे विरुद्ध भावो (वेदनाओं) मे खेद मानकर अधीर नहीं होते और न रत्नत्रयधारी अन्तरात्मावोंकी सेवामें ग्लानि करते। जैसे कि उद्दायन राजाने साधुकी रुचिसे, ग्लानिरहित होकर सेवा की।

१६४—ज्ञानी जीवकी निज शुद्ध आत्मतत्त्वमें प्रतीति, ज्ञप्ति व चर्याकी भावना होती है जिसके बलसे वह शुभाशुभ भावोंमें व कुदेव, कुगुरुवोंमें संमोहित नहीं होता, जैसे कि ब्रह्मा आदिके व

पच्चीसवें तीर्थङ्करके दृश्य दिखानेपर भी रेवती रानी संमोहित नहीं हुई।

१६५—ज्ञानी जीव शुद्धात्मभक्तिके कारण रागादि भावोंको दूर करता है व व्यवहारमें किसी अज्ञानी पुरुष द्वारा होने वाले धर्मापवादको प्रचलित नहीं होने देता। यह धर्मापवाद कई तरीकोंसे दूर किया जाता है, जैसे कि जिनेन्द्रभक्त सेठने व्रतीभेषमें रहने वाले ठगके द्वारा होने वाले धर्मापवादको उसको निष्कलङ्क साबित करके दूर किया, जैसे कई आचार्योंने भ्रष्ट साधुवोंको संघ-बाह्य करके धर्मापवादको दूर किया इत्यादि।

१६६—सम्यग्दृष्टि पुरुष कर्मविपाकवश कदाचित् स्वयं उन्मार्गमें जावे तो भेदविज्ञानके बलसे शुद्धात्मतत्त्वकी भावनामें चित्त स्थिर करके स्वयंको सन्मार्गमें लगाता है और अन्य कोई उन्मार्गमें (विषयकषायादि-वृत्तिमें) पतित होता हो तो उसे तत्त्वोपदेश आदि द्वारा सन्मार्गमें लगाते हैं। जैसे वारिषेण मुनिने त्यक्त परिग्रहके दिखानेकी घटना बताकर पुष्पडाल मुनिको सन्मार्गमें स्थित किया।

१६७—ज्ञानी जीवके शुद्ध स्वरूपके प्रति अपूर्व वात्सल्य होता है और इसी कारण व्यवहारमें आत्मसाधनाके प्रवर्तक धर्मात्माजनोंमें भी वात्सल्य रहता है, जिस भावके कारण तत्त्वभावना द्वारा अपने विभाव रूप उपसर्गोंको दूर करता है और प्रयत्नपूर्वक अन्य धर्मिजनोंके उपसर्ग व क्लेशको दूर करता है। जैसे श्री विष्णुकुमार मुनिवरने अकंपनाचार्य आदि ७०१ मुनियोंके उपसर्गको दूर कराया था।

१६८—ज्ञानी अन्तःक्रिया व बहिःक्रिया द्वारा आत्माका व निज शासनका प्रभावक ही होता है। वह शुद्धात्म-भावनाके बलसे राग द्वेषादि परिणतियोंको दूर करके अपना प्रभावक तो होता ही है साथ ही उसकी मुद्रा व शुभ चेष्टाओंसे लोकमें भी धर्मप्रभावनाका निमित्त होता है। जैसे मुनिवर वज्रकुमारने अपने योगमें स्थिरता की जिसके प्रसादसे राजकृत खड्गका आक्रमण भी फूल बन गया, तथा जैसे मुनिवर मानतुंग

आदिके अनेक अतिशयोंने जिनशासनकी प्रभावना की। रत्नत्रयकी प्राप्ति अतीव दुर्लभ है। इसके ही प्रसादसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षतत्त्वका कारण है। रत्नत्रयके विपरीत भावमें याने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रकी वर्तनामें कर्मबन्ध है, यह संसारका कारण है। अतः संसारके कारणोंसे हटकर मोक्षमार्गके लगनेके परिणाममें यत्न करना चाहिये याने शुद्धात्माका आश्रय करना चाहिये।

इति निर्जराधिकार समाप्त
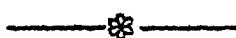
बन्धाधिकार

१६६—कर्मबन्धका कारण क्या है और वह कैसे मिटे? यह रहस्य जानना बहुत आवश्यक चीज है। यहां कर्मबन्धके कारणको एक दृष्टान्त द्वारा प्रकट किया जाता है। जैसे एक मल्ल अपने शरीरमें तैल लगाकर हाथमें तलवार लेकर शस्त्राभ्यासके लिये धूलवाले अखाड़ेमें कूदता है और वहां कदली आदि पेड़ोंका तलवारसे घात करता है। कुछ समय इस व्यायामके कर लेनेपर उसके देहमें धूल बहुतसी चिपट जाती है। यहां विचार करें कि उस मल्लके देहमें धूल असलमें किस कारणसे चिपट गई। इसी प्रकार विचार करनेके लिये दार्ष्टान्तका दृष्टिकोण लेवें। यह संसारी जीव रागादिमें उपयोग लगाकर मन, वचन, कायका योग करके बाह्य साधनोंके आश्रयसे कार्माणवर्गणाओंकरि व्याप्त संसारमें सचित्त अचित्त परिग्रहका संग्रह, संहार करता है और परिणाम स्वरूप कर्मसे बंध जाता है। अब यहां विचार करें कि क्या (१) सचित्तादि पदार्थोंका संहारादि किया इससे कर्म बंधा? (२) क्या बाह्य साधनोंके कारण कर्म बंधा? (३) क्या मन वचन कायके योगसे कर्म बंधा? (४) क्या कार्माण-वर्गणाओंसे भरे संसारमें रहनेके कारण कर्म बंधा? जैसे कि दृष्टान्तमें पर्चा हो सकता है कि (१) क्या कदली आदि वृक्षोंका घात होनेसे देहमें

धूल चिपकी ? (२) क्या तलवार हाथमें होनेके कारण धूल चिपकी ? (३) क्या व्यायाम व्यापार करनेसे धूल चिपकी ? (४) क्या धूल भरे अखाड़ेमें रहनेसे धूल चिपकी ?

१७०—उक्त प्रश्नोंपर विचार करनेसे यह समाधान होता है कि सचित्त पदार्थ (प्राणी) के घातसे कर्म नहीं बंधता, क्योंकि यदि प्राणि-घातसे कर्म बंधता हो तो ईर्या समिति (प्राणिरक्षा करते हुए) से चलते हुए साधुके पद-तलमें कोई सूक्ष्म जन्तु आ जाय व उसका घात हो जाय तो वहां भी उस कारणसे वन्ध होना चाहिये किन्तु साधुके तो तत्कृत वन्ध होता नहीं। जैसे कि यदि कदली आदि वृक्षके घातसे यदि धूल चिपटती हो तो दूसरा मल्ल भी तो जो कि जरा भी तैल देहमें नहीं लगाये हुए है, उसी प्रकार व्यायाममें कदली आदि वृक्षका घात कर रहा है। उसक देहमें क्यों नहीं धूल चिपटती ? इससे सिद्ध है कि जैसे कदली घातके कारण धूल नहीं चिपटती इसी प्रकार सचित्त-घातसे कर्मवन्ध नहीं होता।

१७१—वाह्य साधन (मकान आदि) के कारण भी कर्मवन्ध नहीं होता, क्योंकि यदि वाह्य उपकरण, साधन आदिके कारण कर्मवन्ध होता तो सयोगी जिन अथवा तीर्थंकर भगवानके समवसरणमें तो गन्धकुटी आदि कितने वैभव रहते हैं, फिर उनके कर्मवन्ध क्यों नहीं होता ? जैसे कि तलवार आदि शस्त्र हाथमें होनेसे यदि धूल चिपटी होती तो दूसरा मल्ल भी तो जो देहमें तैल नहीं लगाये हुए है उसी प्रकार तलवार हाथमें लेकर व्यायाम करता है उसके धूल क्यो नहीं चिपटती ? इससे सिद्ध है कि जैसे तलवार आदि उपकरणोंके कारण धूल नहीं चिपटती इसी प्रकार वाह्य साधनोंके कारण जीवके कर्मवन्ध नहीं होता।

१७२—मन वचन कायके हलन चलनसे भी कर्मवन्ध नहीं होता, क्योंकि यदि योगसे कर्मवन्ध हो जाता होता तो सयोगिजिन भगवानके भी तो विहार, दिव्यध्वनि आदिके निमित्त योग होता है, उनके कर्मवन्ध क्यों न होता ? जैसे कि यदि व्यायामके व्यापारसे यदि धूल चिपटती

होती तो दूसरा मल्ल भी तो जो देहमें तैल नहीं लगाये हुए है, उसी प्रकार व्यायामकी चेष्टा करता है उसके धूल क्यों नहीं चिपटती ? इससे सिद्ध है कि जैसे व्यायाम चेष्टाके कारण धूल नहीं चिपटती इसी प्रकार मन, वचन, कायके योग (हलन चलन) के कारण कर्म-बन्ध नहीं होता।

१७३—कार्माणवर्गणाओंसे व्याप्त लोकमें रहनेके कारण भी कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि यदि कार्माणवर्गणाव्याप्त लोकमें रहनेके कारण कर्मबन्ध हुआ करता तो सिद्ध भगवान भी तो लोकमें हैं उनके कर्मबन्ध क्यों नहीं हो जाता। जैसे कि धूल भरे अखाड़ेमें जानेसे धूल चिपटती होती तो दूसरा मल्ल भी तो जिसके कि देहमें तैल नहीं लगा है, उसी धूल भरे अखाड़ेमें व्यायाम करता है, उसके धूल क्यों नहीं चिपटती ? इससे सिद्ध है कि जैसे धूल भरे अखाड़ेमें जानेसे धूल नहीं चिपटती इसी प्रकार कार्माणवर्गणाव्याप्त लोकमें रहनेसे कर्म नहीं बंधता।

१७४—अब केवल जिज्ञासा एक यही रह जाती है कि आखिर कर्मबन्ध किस कारणसे होता ? जैसे कि दृष्टान्तमें अवशिष्ट जिज्ञासा यही रह जाती कि आखिर उस मल्लके धूल किस कारणसे चिपटी ? समाधान यह है कि जैसे देहमें स्नेह (तैल) लगनेके कारण उस मल्लके वहां धूल चिपट गई, इसी प्रकार स्नेह (रागादिविभाव) होनेके कारण जीवके कर्मबन्ध हो जाता है। यहां इतना विशेष जानना कि मात्र रागसे कर्मबन्ध साधारण होता है, किन्तु रागमें राग होनेसे अथवा रागादिको उपयोग भूमिमें ले जानेसे कर्मबन्ध विशेष होता है। कर्मबन्धकी विशेषता संसारका मूल है। उक्त साधारण कर्मबन्ध संसारवृद्धिका कारण नहीं, किन्तु अल्पकालमें उसकी भी निर्जरा होकर निर्जरा हो ही जायगी।

१७५—रागादि परिणामको उपयोग भूमिमें ले आना ही अज्ञान परिणाम है। अज्ञान परिणाम कर्मबन्धका कारण है। जैसे कि कोई यह मानता है कि मैं पर जीवोंको मारता हूँ या पर जीवोंसे मैं मारा

जाता हूँ, ऐसा विकल्प करना अज्ञान है। यह अज्ञान जिनके है वे मिथ्यादृष्टि हैं, जिनके यह अज्ञान नहीं वे सम्यग्दृष्टि हैं।

१७६—यह विकल्प अज्ञान क्यों है? समाधान-चूंकि अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी परिणति नहीं कर सकता, सो कोई जीव किसी जीवको न मार सकता न कोई किसीसे मारा जाता, इस कारण उक्त विकल्प अज्ञान है। जैसे कोई जीव मरता है तो वह अपने भावकी आयुक्षयसे ही तो मरता है, यदि उसके आयुका क्षय न हो तो मरण संभव ही नहीं है। किसीकी आयुको न तो तुम हर सकते हो और न तुम्हारी आयुको अन्य कोई हर सकता है। फिर जो वात की नहीं जा सकती उस वातका अध्यवसाय करना अज्ञान नहीं तो और क्या है? अज्ञान ही है।

१७७—इसी प्रकार जीवके कर्तृत्वका अध्यवसाय भी अज्ञान है। जैसे कि किसीने यह प्रतीति की कि "मैं दूसरोंको जिलाता हूँ या मैं दूसरों के द्वारा जिलाया जाता हूँ" यह भी अज्ञान भाव है। अज्ञान ही वन्धका कारण है।

१७८—यह विकल्प अज्ञान क्यों है? उत्तर-अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी परिणति नहीं करता सो कोई जीव किसी जीवको न जीवन दे सकता और न किसी जीवसे जीवन ले सकता। जैसे कोई जीव जीता है तो वह अपनी ही आयुके उदयसे जीता है, यदि उसके आयुका उदय न हो तो कोई जिला नहीं सकता। आयुकर्म किसीका न तुम दे सकते और न तुम्हारी आयुकर्म अन्य कोई तुम्हें दे सकता। फिर, जो वात की नहीं जा सकती उसका अध्यवसाय करना अज्ञान नहीं तो और क्या है? अज्ञान ही है।

१७९—इसी प्रकार "मैं अमुकको दुःखी करता हूँ, अमुकको सुखी करता हूँ" ये अध्यवसाय भी अज्ञान है, क्योंकि दुःखी सुखी होना जीव के अपने अपने कर्मोदयसे ही संभव है। जैसे कोई जीव सुखी होता है तो वह अपने पूर्वार्जित सातावेदनीयके उदयसे सुखी होता है।

सातावेदनीय कोई उसे दे नहीं सकता, यही दुःखकी वात है। असातावेदनीय भी कोई अन्यको दे नहीं सकता।

१८०—चाहे कोई जीव परके प्रति पाप परिणाम करे या कोई पुण्य परिणाम करे उससे परका परिणमन हो नहीं जाता, केवल वे परिणाम पाप या पुण्यबन्धके कारण होते हैं। बन्धका कारण अध्यवसाय भाव (मोह, राग, द्वेषादि) है, वाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है। हां बन्धके कारणभूत रागादि परिणामका आश्रयभूत वाह्य वस्तु होता है। चरणानुयोगमें जो वाह्य वस्तुका त्याग बताया गया है वह रागके आश्रयभूत पदार्थसे दूर रहनेको बताया जिससे रागके आविर्भावकी सुगमता न रहे, क्योंकि वाह्य वस्तुके आश्रय विना अध्यवसाय भाव उत्पन्न नहीं होता। जैसे कि युद्धमें यह तो भाव हो सकता है कि मैं वीरजननीके पुत्रका घात करूं, किन्तु यह भाव नहीं हो सकता कि 'मैं वन्ध्याके पुत्रका घात करूं'। तात्पर्य यह है कि रागादिक वाह्य वस्तुके आश्रय विना नहीं होते, अतः वाह्य वस्तुका प्रतिषेध कराया जाता है।

१८१—कभी ऐसा भी होता है बन्धके कारणका आश्रयभूत जैसी वाह्य वात होती है वह वाह्य वात भी हो जाय तो भी बन्ध नहीं होता इससे और भी सुसिद्ध वात हुई कि वाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है। जैसे कोई मुनिराज ईर्या समितिसे विहार कर रहे हैं, उस समय पद तल अचानक कोई सूक्ष्म जीव उड़कर या किसी तरह मर जावे तो उन मुनिराजको उस हिंसाका बन्ध नहीं होता है। इस कारण जीवके परिणाम अध्यवसानरूप न हो तो वाह्य वस्तु बन्धके हेतुका हेतु भी नहीं होता।

१८२—"मैं अन्य जीवको दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ" यह सब अध्यवसान मिथ्या है क्योंकि किसी जीवने परिणाम तो किया कि मैं अमुकको दुःखी करता हूं और उस अमुकके असाताका उदय नहीं है तो वह दुःखी तो नहीं होता। तथा, किसी जीवने परिणाम किया कि अमुकको सुःखी करता हूँ और उस अमुकके साताका उदय नहीं है तो

सुखी तो नहीं होता। तात्पर्य यह है कि परके विचारनेसे अन्यमें स्वार्थ-क्रिया तो नहीं हुई। जहां स्वार्थक्रिया नहीं है।वह झूठ है। जैसे कोई ऐसा अध्यवसान करे कि मैं आकाशके फूल तोड़ता हूँ तो वह झूठा ही भाव तो है।

१८३—इसी प्रकार कोई जीव सोचे कि मैं,पर जीवको बांधता हूँ या छुटाता हूं तो यह भाव भी मिथ्या है। जैसे किसीने (सीताके जीव प्रतीन्द्रने) यह भाव किया कि मैं अमुकको (रामचन्द्र जीको) बांधता हूँ तो अमुकका (रामचन्द्र जीका) सराग परिणाम नहीं है तो वह बंध तो नहीं सका। इसी तरह छुड़ानेकी भी बात समझना। कोई जीव सोचे कि मैं अमुकको मुक्त बनादूं और अमुकके वीतराग परिणाम न हो तो अमुक मुक्त तो नहीं हो जायगा। अतः सभी अध्यवसान मिथ्या हैं।

१८४—अज्ञानी जीव निष्फल रागादिभावसे मोहित होकर किसी भी परभावको अपने रूप करता रहता है। जैसे नारकादिभाव होते हैं, नरकगत्यादिकर्मके उदयसे और अज्ञानी जीव मैं नारकी हूं आदि प्रतीति से अपनेको नारकादिरूप करता है। अथवा जैसे हिंसारूप भावके द्वारा अपनेको हिंसक करता है इत्यादि।

१८५—इतना ही नहीं, किन्तु अज्ञानी जीव ज्ञेय पदार्थोंको भी अपनेरूप किया करता है। जैसे कि धर्मास्तिकायको जानता हुआ मानता है कि मैं धर्मास्तिकाय हूँ। पुद्गलको जानता हुआ मानता "मैं पुद्गल हूं", अन्य प्राणीको जानता हुआ मानता है कि मैं यह प्राणी हूँ। यहां यह प्रश्न होना प्राकृतिक है कि ऐसा तो कोई विकल्प नहीं करता। समाधान यह है कि जैसे घटाकारपरिणत ज्ञान उपचारसे घट कहा जाता है इसी प्रकारसे धर्मास्तिकाय आदिकी परिच्छित्तिरूप जो विकल्प है वह भी उपचारसे धर्मास्तिकायादि रूप कहा जाता है। जब जीव "यह धर्मास्तिकाय है" ऐसा विकल्प करता है तब धर्मास्तिकाय भी उपचारसे किया हुआ होता है। तात्पर्य यह है कि मोही जीव ज्ञेयाकार विकल्प से विलक्षण स्वरूप वाले निज तत्त्वकी प्रतीति नहीं कर सकता।

१८६—जो जीव सर्व परभावोंसे भिन्न शुद्ध चैतन्यमात्र समयसार की प्रतीति नहीं कर सकता वह वाह्य दुर्धर तप, व्रतके अनुष्ठान करके भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मविकास वाह्यक्रियापर निर्भर नहीं है। अज्ञान भावके होनेपर अध्यवसान होते ही हैं। वह सब अध्यवसान बन्धका ही कारण है। अब यहां प्रश्न यह हो सकता है कि इन रागादि अध्यवसानोंके होनेमें निमित्त क्या है, क्या आत्मा निमित्त है अथवा परपदार्थ? उत्तर-जैसे स्फटिक मणि अपने आप स्वच्छ है वह ललाई आदि रंग रूप यों ही आप नहीं परिणम जाता है, किन्तु लाल आदि पर द्रव्योंके सम्बन्धके निमित्तसे लाल आदि रंग रूप परिणमता है। इसी प्रकार ज्ञायक आत्मा अपने आप शुद्ध है वह रागादिरूप यों ही आप नहीं परिणम जाता है, किन्तु रागादि प्रकृति वाले कर्मरूप परद्रव्यके उदयके निमित्तसे रागादिरूप परिणमता है।

१८७—तथा जैसे लोकमें अनेक बातें निमित्तनैमित्तिकताको सिद्ध करती हैं वैसे यहां रागादिभावमें निमित्तनैमित्तिकता जाननी। यदि परद्रव्य निमित्त नहीं होता तो द्रव्य-प्रत्याख्यान व भाव-प्रत्याख्यान ये दो भेद ही कैसे बनते। द्रव्यका (वाह्य वस्तुका) जो त्याग नहीं करता वह तद्विषयक भावका भी त्याग नहीं कर सकता। इससे निमित्तनैमित्तिकता तो परके साथ बन गई। जैसा खावे अन्न तैसा होवे मन इसमें भी तो परद्रव्यका निमित्तपना आया। जैसे पापनिष्पन्न अथवा उद्दिष्ट आहारको जब कोई नहीं छोड़ता तो वह बन्ध साधक भावको भी नहीं छोड़ता। इसी प्रकार आत्माके रागादि भाव होनेमें कर्म परद्रव्य निमित्त है। कर्म परद्रव्य संयोग छूटे रागादि भी छूट जाते हैं।

१८८—कर्म पर द्रव्य कैसे छूटते हैं यह आखिरी एक समस्या है? उसका हल यह है कि कर्मबन्ध होता है परके कर्ता या कराने वाले या अनुमोदना करने वाले बननेके आशयसे, सो सर्व पर द्रव्योंका मात्र ज्ञाता रहे, न आशयमें कर्ता बने न कारयिता बने न अनुमोदयिता बने तो कर्मबन्ध हट जाता है। जैसे आहारका न कर्ता बने न कारयिता बने

और न अनुमोदयिता वने याने मन वचनकाय कृत कारित अनुमोदनारूप नव विकल्पोंसे जो साधु आहारके विषयमें शुद्ध है तो परकृत आहारके विषयमें वन्ध नहीं है। यदि परके परिणामसे वन्ध होने लगे तो कभी भी निर्वाण नहीं हो सकता। इस तरह रागादिकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत पर द्रव्य है तो भी स्वतन्त्र सत्तात्मक यथार्थ स्वरूपके ज्ञानसे निमित्त, संयोग भी स्वयं हट जाता और आत्मा रागादिरहित हो जाता है।

इति वन्धाधिकार समाप्त

——:※:——

मोक्ष अधिकार

१८९ – अब मोक्ष तत्त्वके सम्बन्धमें प्रथम यह विचार किया जाता है कि कर्मसे मुक्त होनेका उपाय क्या है? कोई पुरुष ऐसा मानते हैं कि कर्मबन्धके स्वरूपक परिज्ञानमात्रसे जीव कर्मसे मुक्त हो जाता है सो यह वात नहीं है। जैसे कोई कैदी यह जाना करे कि ये वेड़ियां इस तरह पड़ी हैं, अमुक दिन पड़ी हैं, ऐसी कठोर है, तो क्या इतने ज्ञानसे कैदीकी वेड़ियां खुल जायेंगी? नहीं। वेड़ियां तो वेड़ियोंके वन्धके छेदनसे ही दूर होंगी। इसी प्रकार कोई जीव यह जाना करे कि अमुक कर्म इस प्रकृतिका है, इतनी स्थिति है, ऐसा अनुभाग है, इस परिणामके निमित्तसे वन्धा है, तो क्या मात्र इतने जाननेके कारणसे वह वन्धसे मुक्त हो जायगा? नहीं। वन्धसे मुक्ति तो वन्धके छेदनसे ही होगी याने मोह, राग, द्वेषरूप परिणमन व अनंतज्ञानादि गुणमय आत्मस्वरूपमें प्रज्ञा द्वारा भेद करके निजपरमात्मस्वरूपमें स्थित होनेसे ही वन्धनसे मुक्ति होगी।

१९०—कोई जीव ऐसा भी सोचते हैं कि वन्धसे छूटनेके चिन्तन, ध्यानसे मुक्ति हो जायगी सो यह भी वात नहीं है। जैसे कि कोई कैदी यह चिन्ता अथवा ध्यान किया करे कि 'मैं वेड़ीसे छूट जाऊं, मेरी वेड़ी टूट जाय' तो क्या इस चिन्तासे वेड़ी कट जायेंगी? नहीं। वेड़ी तो वेड़ीके

कटनेसे ही टूटेगी। इस प्रकार कोई चिन्तन किया करे कि कर्म छूट जावे, बन्धन नष्ट हो जावे तो क्या इतने चिन्तन मात्रमें बन्धनसे मुक्ति हो जावेगी ? नहीं। बन्धन तो बन्धके छेदसे ही मिटेगा। भले ही एक प्रकार के इस धर्म-ध्यानसे पुण्यबन्ध हो जाय परन्तु इससे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

१६१—जैसे कोई बन्धनमें बंधा हुआ पुरुष अपने ज्ञान व पुरुषार्थ के बलसे रस्सीका बन्धन है तो उसे तोड़कर, सांकलका बन्धन है तो उसे फोड़कर, काठका बन्धन है तो उसे छुटाकर मुक्त (स्वतन्त्र) हो जाता है। इसी प्रकार जीव तो विभाव, कर्म व शरीरके बन्धनमें बद्ध है सो वह भेदविज्ञान व पुरुषार्थके बलसे विभावोंको छेदकर, कर्मोंको भेदकर, शरीर को छुटाकर मुक्त (स्वतन्त्र) हो जाता है।

१६२—बन्ध-छेदका उत्तर उपाय निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान है। इस परिणमनमें कुछ भी विकल्प (ग्रहण) नहीं है, ऐसा नहीं जानना किन्तु शुद्धात्माका संवेदन (ज्ञानरूप विकल्प) है अर्थात् स्वसंवेदनाकाररूप एक विकल्पसे परिणत है सो इस रूपसे सविकल्प है। यद्यपि यह परिणमन स्वसंवेदन रूपसे सविकल्प है तो भी बाह्यविषयक विकल्प न होनेसे वह निर्विकल्प ही है। जैसे लोकमें विषयानन्दरूप सराग स्वसंवेदन ज्ञान उस विषयक विकल्प होनेसे सविकल्प है, तो भी इतर अन्यविषयक विकल्प न होनेसे लौकिक दृष्टिका निर्विकल्प कहा जाता है। अथवा दोनों जगह अन्य विषयक सूक्ष्म विकल्प चाहे हैं उनकी मुख्यता न होनेसे निर्विकल्प हैं।

१६३—बन्धछेदका मूल उपाय भेदविज्ञानरूपी छैनी है। जैसे हथौड़ेके प्रयोगकी प्रेरणासे छैनी द्वारा अनेकके संयोगसे हुए पिण्डके दो टूक कर दिये जाते हैं, इसी प्रकार ज्ञानभावनाकी प्रेरणासे भेदविज्ञानके द्वारा स्वभाव विभावके सम्बन्धको पृथक् कर दिया जाता है।

१६४—यहां भेदविज्ञान यह होता है कि आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है कि त्रिकाल है व बन्ध मिथ्यात्वरागादिक विभावरूप है जो त्रिकाल

नहीं है अतः ये भिन्न हैं। रागादिका जो चैतन्यके साथ उठना है याने चेतनमें झलकना है वह चेत्यचेतक भावके कारण हैं, एक स्वरूप होनेके कारण नहीं है सो रागादिका झलकना तो और यही सिद्ध करता है कि आत्मा चेतन है, उसका स्वरूप चेतना है। जैसे कि दीपकके होनेपर घटादिक पदार्थ प्रकाशित होते हैं सो यह प्रकाश्यप्रकाशकताके कारण हैं, एक पदार्थके कारण नहीं। यहां भी घटादिका प्रकाशित होना यही सिद्ध करता है कि प्रदीप प्रकाशकता स्वभाव वाला है।

१६५—इस आत्माका ग्रहण प्रज्ञा द्वारा करना चाहिये। पहिले प्रज्ञासे भेद किया था कि मैं चैतन्यस्वभाव हू व रागादि बन्धस्वभाव हैं। अब चैतन्य स्वभावको ग्रहण करना कि मैं चेतने वाला हू, चेतता हुआ चेतता हू, चेतने वालेको चेतता हूँ, चेतयमानके द्वारा चेतता हूँ, चेतयमानके लिये चेतता हूँ, चेतयमानसे चेतता हू, चेतयमानमे चेतता हूं, फिर निर्विकल्प स्वरूप अनुभव करके इन विकल्पोका भी निषेध करके ऐसा अनुभव करे कि मैं सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं। इस प्रकार जो निज तत्त्वका ग्रहण करता है वह बन्धनको प्राप्त नहीं होता और जो निज तत्त्वकी दृष्टिसे च्युत होकर पर द्रव्यका ग्रहण याने "ममेदं, अहमिदं वा" विकल्प करता है वह बन्धनको प्राप्त होता है क्योंकि परद्रव्यका ग्रहण करनेसे वह अध्यात्म चौर है। जैसे जो चोरी करता है याने परकी चीजको अपनी बनाता है वह शंकित रहता है व बंधता है, इसी प्रकार जो पर पदार्थको अपना मानता है याने ग्रहण करता है, वह भी शङ्कित होता है व बंधता है।

१६६—तथा जैसे जो परद्रव्यका ग्रहण करता है वह चौर दण्ड पाकर शुद्ध होता है पाश्चात् निःशङ्क हो जाता है। इसी प्रकार परद्रव्यका राग आदि रूप ग्रहण करता है वह प्रतिक्रमणादिरूप दण्ड पाकर शुद्ध होता है पश्चात् निःशङ्क शुद्धात्माराधनामें लग जाता है।

१६७—और, जो पर द्रव्यका ग्रहण वाञ्छा भी नहीं करते हैं वे प्रथमतः एव दण्डकी सम्भावना विना निःशङ्क रहते हैं और अपनी प्रवृत्ति

में, कृतिमें रत रहते हैं, इसी प्रकार जो रागादि अपराध नहीं करते वे प्रतिक्रमणादि दण्ड पाये बिना ही निःशङ्क रहते हैं और निर्दोष निजपरमात्मतत्त्वकी आराधनामें रत रहते हैं।

१९८—साधुजन अज्ञानियों जैसे होने वाले अप्रतिक्रमणसे बचने के लिये प्रतिक्रमण करते हैं और प्रतिक्रमणकी प्रवृत्तिसे भी परे होनेके लिये सर्व विशुद्ध अप्रतिक्रमण याने मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप निर्विकल्प परिणति करते हैं, इसको तृतीय भूमिका कहते है। लोकमें जैसे विषकुम्भ उसे कहा जाता है जिसमें ऐसा विष रहता है कि जिसके पान करनेसे जीवकी मृत्यु हो। इसी प्रकार अध्यात्ममें अज्ञानिजन-संभव अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है ही, किन्तु प्रतिक्रमणको भी एक विकल्प अंश होनेसे विषकुम्भ कहा है। यह पूर्व अप्रतिक्रमणकी अपेक्षा अमृतकुम्भ कहा जा सकता है सो यदि तृतीय भूमिकाके अप्रतिक्रमणका स्पर्श हो तो।

१९९—लोकमें जैसे अमृतकुम्भ उसे कहा जाता है जिस अमृतके पानसे सर्व प्रकार हित ही हित हो, ऐसे अमृतपूर्ण कुम्भको। इसी प्रकार सर्वथा अध्यात्ममें सर्वथा अमृतकुम्भ तो वह ही है जिसके आश्रयसे अथवा जिस आश्रयमें सर्व प्रकार हित ही हित है, विकल्प अंशका नाम ही नहीं है। ऐसा सर्वथा अमृतकुम्भ तो तृतीय भूमिकाका अप्रतिक्रमण है। यह तृतीयभूमि शुद्धात्मसिद्धि रूप है, निर्विकल्प निश्चयरत्नत्रय स्वरूप है। यह पद बन्धरहित है व स्वयं मोक्ष स्वरूप है।

इति मोक्ष अधिकार समाप्त

———※———
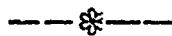
सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

२००—जिस स्वरूपसे आत्माके देखे जानेपर व जिसका आश्रय करनेसे निर्मल पर्याय प्रकट होती है अर्थात् मोक्ष मार्ग व मोक्ष प्राप्त
। है वह आत्मा अन्य सर्वसे न्यारा ज्ञानमात्र सर्वविशुद्ध है। उसकी
म टङ्कोत्कीर्णवत् प्रकट होती है। जैसे कोई प्रतिमा पाषाणसे प्रकट

होती है वह किसी पदार्थसे बनाई नहीं जाती, जो प्रकट हुई है वह चीज उस पाषाणमें थी। अगल बगलके पत्थर खण्ड दूर हुए कि वह प्रकट हो गई। इसी प्रकार समयसार जो प्रकट होता है अथवा शुद्ध आत्मा जो प्रकट होता है वह किन्हीं पदार्थसे नहीं आता वह तो सदा अन्तः प्रकाशमान है, राग, द्वेष आदि अज्ञान भाव अंश दूर हुए कि वह प्रकट हो गया।

२०१—तथा जैसे आत्मा किन्हीं अन्य पदार्थोंसे नहीं बनता है, प्रकट नहीं होता वैसे ही अन्य कोई पदार्थ आत्मासे नहीं बनते, प्रकट नहीं होते। इसका कारण यह है कि सर्व द्रव्योंकी परिणतियोंका खुदके द्रव्यमें ही तादात्म्य होता है, जैसे कि सुवर्णको कटक, कुण्डल आदि जो जो भी परिणतियां होती हैं उनका तादात्म्य सुवर्णमें ही तो होता है, सुनार या पहिनने वालेमें तो नहीं होता। जब परिणतियां स्वयं स्वयंकी स्वयं स्वयमें होतीं तब एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ कर्ताकर्मभाव कैसा। अतः आत्मा अजीवका अकर्ता है, कोई भी अजीव जीवका कर्म नहीं है। और जैसे आत्मा परका कर्ता नहीं है, वैसे ही परका मोचक (छोड़ने वाला या छुड़ाने वाला) भी नहीं है। इस तरह परम शुद्ध (सर्व विशुद्ध) निश्चयनयसे जीव न बन्धका कर्ता है और न मोक्षका कर्ता है अथवा जीव बन्ध मोक्षकी रचनासे रहित है।

२०२—फिर जीवका कर्म प्रकृतियोंसे बन्ध क्यों हुआ? इसका समाधान यह है कि यह सब अज्ञानकी महिमा है। जो कुछ यह सब विभावरूप बात उत्पन्न हो रही है वह निमित्तनैमित्तकताका परिणाम है। जब स्व परका यथार्थ स्वलक्षणका ज्ञान नहीं होता तब जीवको पर व स्वमें एकत्वका अध्यास होता है सो कर्ता बनकर यह जीव कर्मोदयका निमित्त पाकर नाना रूपोंमें उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और जीव इस अज्ञान भावको निमित्त पाकर कर्म भी नाना रूपोंमें आता है। इस प्रकार कर्ताकर्मभाव तो नहीं है किन्तु परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। इसी कारण कर्ताकर्म व्यवहार है व भोक्ता भोग्य व्यवहार भी है। अज्ञान दूर

हुआ अर्थात् स्व परका यथार्थ यथार्थ स्वलक्षण ज्ञात हुआ। कि यह बन्ध दूर हुआ, भोग भी दूर हुआ अज्ञानी जीव ही कर्मफलभोक्ता होता है। जैसे सर्पको गुड़ व दूध भी पिलाया जावे तो भी वे निर्विष नहीं होते। इसी तरह जब तक अज्ञान भाव है यह अज्ञानी जीव शास्त्रोंका भी अध्ययन करले, किन्तु प्रकृतिस्वभाव (रागादिभाव) को नहीं छोड़ता है। प्रकृतिस्वभावमें स्थित होकर अज्ञानी जीव कर्मफलको भोगता है।

२०३—ज्ञानी जीव न तो कर्मको करता है और न कर्मको भोगता है वह तो ज्ञान-बलके कारण स्वमें तृप्त रहता है व कर्मबन्ध, कर्मोदय, कर्मफल, कर्मनिर्जरा व मोक्षको जानता है। पर द्रव्यको अहं रूपमे अनुभव करनेमें अशक्त होनेसे ज्ञानी कर्मका कर्ता भोक्ता नहीं होता है। जैसे दृष्टि (नेत्र) अग्निको देखता है किन्तु अग्निका कर्ता या भोक्ता नहीं है। यदि दृष्टि अग्निको करने लगे तो अग्निके देखनेसे अग्नि जल उठना चाहिये या दृष्टि अग्निको भोगने लगे तो अग्निके देखनेसे नेत्र संतप्त हो जाना चाहिये। सो तो होता नहीं है। अतः दृष्टि न तो अग्निका कर्ता और न अग्निका भोक्ता है, केवल द्रष्टा है। इसी प्रकार ज्ञान भी केवल देखनदार (जाननदार) स्वभाव वाला होनेके कारण कर्मोदय आदिको मात्र जानता है, करता व भोगता नहीं है।

२०४—यद्यपि रागादिक आत्माके परिणमन है तो भी आत्मा स्वभावसे रागादिकका कर्ता नहीं है, क्योंकि आत्मा यदि इसका कर्ता हो हो जावे तो आत्मा तो नित्य है सो वह रागादिका नित्यकर्ता हो जायगा फिर आत्माका मोक्ष कैसे हो सकेगा? नहीं हो सकेगा। जैसे कि जो लोग यह मानते कि एक कोई विष्णु मनुष्य देव आदि बनाता है व रागादि कार्य कराता है तो उनकी मान्यतामें मोक्ष कैसे हो सकता? नहीं हो सकता, क्योंकि जीवका परिणमन ईश्वराधीन है ईश्वरकी मर्जी हो तो सिद्धि हो सो उसकी मर्जी होती ठीक तो पहिलेसे ही दुःखी क्यों बनाया। अतः यह निश्चय करना कि आत्मा स्वभावसे रागादिका कर्ता भी नहीं है। रागादि परिणमन तो पुद्गल कर्मोदयको निमित्त पाकर

आत्माके विकार रूप हैं। तथा निश्चयसे तो यही बात है कि पर द्रव्यका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है तब कर्ताकर्मका भी सम्बन्ध नहीं और इसी कारण आत्मा रागादि व कर्मादिका कर्ता भी नहीं है।

२०५—केवल व्यवहारनयसे "पर द्रव्य मेरा है" ऐसा कहा जाता है। निश्चयसे तो परमाणुमात्र भी कुछ मेरा नहीं है। जैसे कोई मनुष्य कहे कि ग्राम मेरा है, नगर मेरा है तो यह मोहमें ही कहा जा सकता है या व्यवहारनयसे कहा जा सकता है। निश्चयसे तो ग्राम या नगर उसका नहीं है। यदि कोई व्यवहार-हठी होकर मेरा ग्राम है ऐसा देखेगा तो वह मत्त ही है। इसी तरह यदि कोई ज्ञानी व्यवहार-विमूढ़ होकर पर द्रव्यको अपना बनावे तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

२०६—यहां यह जिज्ञासा उत्पन्न होना प्राकृतिक है कि मिथ्यात्व परिणाम किसका कार्य है? मिथ्यात्व परिणाम अचेतन प्रकृतिका तो कार्य है नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व प्रकृति तो अचेतन है अचेतनमें चैतन्य जैसे भाव नहीं हो सकते। मिथ्यात्व भाव जीव व प्रकृति दोनोंका मिलकर भी कार्य नहीं है क्योंकि यदि जीव व अचेतन प्रकृति दोनोंका कार्य मिथ्यात्व होता है, मिथ्यात्व परिणामका भोग अचेतन प्रकृतिको करना पड़ता, जैसे कि जीवको करना पड़ता। बिना किया हुआ तो मिथ्यात्व है नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व भी तो एक परिणमन है, कार्य है। समाधान इसका यही आता है कि मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय तो वहाँ निमित्त है और कार्य है जीवका। यदि कहा जाय कि मिथ्यात्व प्रकृतिका ही कार्य है मिथ्यात्व परिणाम तथा जागना, सोना, बैठना, कषाय, ज्ञान, अज्ञान सभी कर्म प्रकृतिका कार्य हैं तो फिर यह बताओ कि क्या जीव अपरिणामी है? यदि जीव अपरिणामी है तो फिर "जीव भी कुछ करता है" यह अर्पवचन मिथ्या हो जायगा। यदि कहो कि कर्म तो अज्ञानादि भावको करता है और जीव अपनेको द्रव्यरूप करता है, तो जीव तो द्रव्यरूपसे नित्य है सो जो नित्य है वह कार्य कैसे हो सकता क्योंकि नित्यपने व कार्यपनेका परस्पर विरोध है? जीव तो द्रव्यरूपसे अवस्थित

असंख्यातप्रदेशी है सो इस दृष्टिमें भी कार्य कैसे हो सकता। हां जैसे पुद्गल स्कन्धोंमें कुछ प्रदेशोंका निकल जाना कुछ अन्य प्रदेशोंका मिल जाना हुआ करता है ऐसा जीवमे हो जाता तो कार्य कह दिया जाता, किन्तु जीव तो अखण्ड है वहां कुछ प्रदेशोंका बिछुड़ना कुछका मिलना संभव ही नहीं। स्कन्ध तो द्रव्य नहीं वह तो पर्याय है। पर्याय-दृष्टिसे पुद्गलमे इसका व्यवहार है।

२०७—यदि कहो कि जीवमें प्रदेशोंका निकलना व आना तो नहीं होता किन्तु संकोच विस्तार तो होता है इससे जीवका कार्य कुछ न कुछ द्रव्य रूपमें भी सिद्ध हो जायगा। सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि कार्य याने नवीन बात तो तब कहलावे जब कि नियत निजविस्तार (लोक-परिणाम असंख्यात प्रदेश) से हीन या अधिक संकोच विस्तार किया जा सके। जैसे कि एक चमड़ेका टुकड़ा है वह चाहे सूखनेपर संकुचित हो जाये और गीला होने पर विस्तृत हो जाये किन्तु उसका जितना परिमाण है उससे कम या अधिक तो नहीं होता। इस प्रकार जीव कर्ता है यह बात द्रव्यरूपमें नहीं बनती, यह कार्यकी बात तो मिथ्यात्वादि परिणमन जीवका हो जाता है यह मानकर ही बनेगा।

२०८—अब यह बात सुसिद्ध है कि जीव द्रव्यरूपसे तो नित्य है और पर्यायरूपसे अनित्य है तभी ये दोनों बातें हैं कि जो करता है वही भोगता है अथवा करता और है व भोगता और है। इनमें किसी एक पक्षका एकान्त नहीं बन सकता। यदि यह माना जाय सर्वथा कि वही कर्ता वही भोगता तो पर्यायमें अन्य हुए बिना भोगना कैसे बन सकता है। यदि यह सर्वथा माना जाय कि करने वाला अन्य है व भोगने वाला अन्य है तो इसमें मात्र पर्यायकी दृष्टि रही। पर्यायमात्र ही आत्मा माना। सो जैसे धागा रहित मात्र मुक्ता देखने वाले जैसे हारको छोड़ देते हैं इसी प्रकार चैतन्यअन्वयगुणसे रहित मात्र पर्याय देखने वालोंने आत्मा ही छोड़ दिया और तब इस एकान्तमें न तो आत्मा रहा और आत्माके अभावमें पर्याय भी न रहा। यह अनिष्टापत्ति आती है। अतः

यह सिद्धान्त ही युक्त है कि कथंचित् वही आत्मा करता है व वही भोगता है अथवा कथंचित् करने वाला और है व भोगने वाला और है। जैसे मनुष्यने तप किया, देव आयु बांधी और मनुष्य-मरणके बाद देवने उस आयु व पुण्यको भोगा। तो करने वाला मनुष्य है व भोगने वाला देव है, परन्तु जीव तो दोनों भवोंमें वही है अतः उस ही ने किया व उस ही ने भोगा। ये दोनों ही बातें सिद्ध हो जाती हैं।

२०९—अथवा कर्ता भोक्ता होओ व न होओ, इसकी चर्चा छोड़कर मात्र शुद्ध वस्तुका चिन्तन करो तो वहां तक शुद्ध चेतना मात्र ही चकासमान है। जैसे—सूतमें पोई हुई मणिमालिकाको केवल हाररूपमें देखो तो वहां केवल वही एक हार चकासमान रहता है।

२१०—निश्चयसे कर्ता व कर्म एक ही वस्तु होती है, केवल व्यवहारसे ही ऐसा देखा जाता है कि कर्ता अन्य है, कर्म अन्य है। जैसे व्यवहारदृष्टिसे कहा जाता है कि सुनारने सोनेका कुण्डल बनाया, हथौड़े आदि करणोंके द्वारा बनाया, हथौड़े आदि करणोंको ग्रहण किया, इनाममें मिले हुए ग्राम आदिक कुण्डलकर्मफलको भोगा। यहाँ निश्चय दृष्टिसे, स्वरूपदृष्टिसे देखो कि क्या सुनार व हथौड़ा या सुनार व सोना या सुनार व गांव क्या सब एकरूप हो गये? नहीं हुए। इस कारण निमित्तनैमित्तिक भाव मात्रके हेतु अन्य अन्य पदार्थोंमें कर्ता कर्म व भोक्ता भोग्यका व्यवहार हुआ। इसी प्रकार व्यवहारदृष्टिसे कहा जाता है कि आत्माने पुण्य पाप कर्म किया, काय वचन मनके द्वारा किया, काय वचन मनको ग्रहण किया, सुख दुःख आदि कर्मफलको भोगा। यहां निश्चयदृष्टि, स्वरूपदृष्टिसे देखो कि क्या जीव व पुण्य पापकर्म या जीव व काय वचन मन या जीव व सुख दुःख आदि कर्मप्रकृति क्या ये एक रूप हो गये? नहीं हुए। इस कारण मात्र निमित्तनैमित्तिकभावसे ही अन्यका अन्यमें कर्ता कर्म भोक्ता भोग्यका व्यवहार हुआ ऐसा समझना।

२११—निश्चयनयसे तो जैसे वहां सुनारने अपनी ही चेष्टारूप कर्म किया है और अपनी ही चेष्टाका परिणाम क्लेशरूप भोगा। इसी

प्रकार निश्चयनयसे तो जीवने अपनी चेष्टारूप आत्मपरिणाम किया व दुःखवेदनरूप निज चेष्टारूप कर्मके फलको भोगा। अतः एक द्रव्यमें ही परिणाम परिणामीभाव होनेसे आत्मा कर्ता, आत्मा कर्म, आत्मा भोक्ता व आत्मा भोग्य हुआ।

२१२—जब निश्चयसे कर्ता कर्म भोक्ता भोग्य वही द्रव्य होता है अन्य अन्य नहीं, तब कोई एक वस्तु अन्य किसी वस्तुका कुछ भी नहीं है। केवल व्यवहारदृष्टिसे अन्यका अन्य कर्ता भोक्ता है अतः व्यवहारदृष्टि से अन्यका अन्य कहा जाता है। जैसे खड़िया एक सफेद वर्णवाला स्कन्ध है उसकी व्यवहारसे सफेद की गई भींट कही जाती है। यहां विचार करें कि क्या खड़िया भींटकी है या नहीं। यदि खड़िया भींटकी है तो जो जिसका होता वह उसमें तन्मय होता है जैसे कि आत्माका ज्ञान, इस न्यायसे खड़िया भींटकी होती हुई भींट ही हो गई। किन्तु कोई द्रव्य मिट जाय ऐसा तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप परिणम ही नहीं सकता। इस तरह खड़िया भींटकी तो हुई नहीं। तब खड़िया किसकी है? खड़ियाकी खड़िया है। वह दूसरी खड़िया क्या है जिसकी यह खड़िया हुई? खड़ियाकी अन्य दूसरी खड़िया कुछ है ही नहीं याने दूसरी किसी खड़ियाका अस्तित्व नहीं, किन्तु एक ही खड़ियामें प्रश्नवशात् स्व-स्वामी अंशकी कल्पना की है वही व्यवहारसे अन्य अन्य है। इस स्वस्वामी अंशके व्यवहारसे क्या मिल जायगा? कुछ नहीं। तब निष्कर्ष यह निकला कि खड़िया किसीकी भी नहीं है, खड़िया खड़िया ही है ऐसा जानो। इसी प्रकार जीव ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावमय एक द्रव्य है उसका व्यवहारसे जाना गया पुद्गलादिक कहा जाता है। यहां विचार करें कि ज्ञायक आत्मा क्या ज्ञेय पुद्गलादिकका हो जाता है या नहीं? यदि पुद्गलादिक (ज्ञेय) का आत्मा (ज्ञायक) है तो जो जिसका होता है वह उसमें तन्मय होता है। जैसे कि आत्माका ज्ञान, तो इस न्यायसे जीव पुद्गलादिकका होता हुआ पुद्गलादिकमय ही हो जा। किन्तु कोई द्रव्य (जैसे यहां जीव) मिट जाय ऐसा तो है ही

नहीं क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप तो परिणम ही नहीं सकता। इस तरह आत्मा (ज्ञायक) पुद्गलादिकका (ज्ञेयका) हुआ नहीं। तब ज्ञायक आत्मा किसका है? ज्ञायक (आत्मा) ज्ञायकका ही है। वह अन्य ज्ञायक कौन है जिस ज्ञायक (आत्मा) का यह ज्ञायक (आत्मा) बने? कोई नहीं, किन्तु कल्पना किये गये स्व-स्वामी अंश ही अन्य अन्य है। इस स्व स्वामी अंशके व्यवहारसे क्या मिल जायगा? कुछ नहीं। तब निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञायक किसीका ज्ञायक नहीं है किन्तु ज्ञायक ज्ञायक ही है ऐसा जानो।

२१३—उक्त प्रकारसे जैसे खड़िया भींटकी नहीं, किन्तु खड़िया खड़ियाकी है। अन्य कोई दूसरी वह खड़िया नहीं जिसकी खड़िया यह हो, सो यह ही सिद्ध है कि खड़िया खड़िया ही है। इसी प्रकार दर्शक आत्मा किसी अन्य पदार्थका नहीं है किन्तु दर्शक (आत्मा) दर्शकका ही है, वह अन्य कोई दर्शक नहीं जिस दर्शकका यह दर्शक हो, सो यह ही सिद्ध है कि दर्शक दर्शक ही है।

२१४—इस ही प्रकार जैसे खड़िया याने श्वेतयित्री भींटकी नहीं है। वैसे ही अपोहक यह आत्मा किसी अन्य पदार्थका नहीं है। अपोहक (आत्मा) अपोहकका ही है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जानना, देखना व अन्य सबसे परे रहना आत्माका ही परिणमन है, इससे कहीं आत्मा परका नहीं हो जाता है।

२१५—जैसे यद्यपि खड़िया भींटकी नहीं है क्योंकि खड़िया भींट के स्वभावसे परिणमती नहीं व खड़िया अपने स्वभावसे भींटको परिणमाती नहीं, तो भी भींटका निमित्त पाकर खड़िया अपने इस प्रकारके विस्तृत श्वेतपनेके स्वभावसे परिणम गई और खड़ियाके निमित्तसे भींट अपने स्वभावके परिणामसे दिखनेमें श्वेतरूपसे बन रही है। इस-निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण संयोग दृष्टिसे ऐसा कहा जाता है कि खड़ियाने भींटको सफेद की। यह व्यवहारका वर्णन है। इसी प्रकार यद्यपि ज्ञायक पर पदार्थका नहीं है, क्योंकि ज्ञायक आत्मापर पदार्थके स्वभाव

से परिणमता नहीं है और पर पदार्थको ज्ञायक अपने स्वभावसे परिणमाता नहीं है, तो भी पुद्गलादिक पर द्रव्यके निमित्तसे याने जाननका विषय पुद्गलादिक होनेसे आत्मा (ज्ञायक) अपने ही ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावके परिणामसे परिणम जाता है और पुद्गलादिक पर द्रव्य ज्ञायक आत्माके जानन परिणामके निमित्तसे अपने ही स्वभावसे ज्ञेयरूप होते हैं। अतः इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण संयोग दृष्टिमें यह प्रतीत होता है कि ज्ञायक आत्मा अपने स्वभावसे पुद्गलादिको जानता है। यह मात्र व्यवहारका वर्णन है।

२१६—जैसे कि यद्यपि श्वेतयित्री खड़िया श्वेत्य भींटकी कुछ नहीं है तो भी इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होनेसे श्वेतयित्री खड़िया भींट की है ऐसा व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि दर्शक यह आत्मा पुद्गलादिक दृश्य पदार्थोंका कुछ नहीं है तो भी दृश्य पदार्थोंका विषय करता दर्शक आत्मा, देखने रूप क्रियासे परिणमता है और दर्शक आत्माके विषय होनेसे पदार्थ दृश्य कहलाते हैं। अतः यह व्यवहार किया जाता है कि दर्शक (आत्मा) दृश्य (पदार्थों) का है। यह मात्र व्यवहारका व्याख्यान है।

२१७—इसी प्रकार जैसे यद्यपि खड़िया श्वेतयित्री श्वेत्य भींटकी नहीं है तो भी इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे खड़िया श्वेतयित्री श्वेत्य भींटकी है ऐसा व्यवहार किया जाता है। इसी तरह यद्यपि अपोहक (त्याग करने वाला) आत्मा अपोह्य (त्याज्य) पदार्थोंका नहीं है तो जिन पदार्थों विषयक विकल्पसे यह आत्मा अलग हुआ है अथवा स्वभावतः अन्य पदार्थोंसे परे रहता है, उन सब पदार्थोंका व आत्माका अपोह्य अपोहक व्यवहाररूप सम्बन्धके कारण ऐसा व्यवहार में कहा जाता है कि अपोहक (आत्मा) अपोह्य (पदार्थों) का है।

इस प्रकार उक्त प्रकारोंसे आत्माके दर्शन, ज्ञान, चारित्र शक्तिकी ...तियोंको निश्चय व व्यवहार दो रूपोंमें देखनेका प्रकार है। इसी अन्य पर्यायोंमें भी लगा लेना चाहिये।

२१८—जैसे कि लोकमें देखा जाता है कि चांदनी छिटकती है, किन्तु चांदनीकी भूमि नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है यह ज्ञानके स्वभावका उदय है इससे कहीं ज्ञानका ज्ञेय या ज्ञेयका ज्ञान बन जाय सो नहीं हो सकता। इससे यह शिक्षा लेना चाहिये कि अन्य द्रव्योंकी ओर आकृष्ट होकर निज तत्त्वके उपयोगसे क्यों च्युत हुआ जाय तथा यही भावना करना चाहिये कि ज्ञान तो ज्ञान ही रहे व ज्ञेय ज्ञेय ही रहे, क्योंकि जब तक ज्ञान ज्ञेयकी स्वतन्त्रताके भानरूप ज्ञानभानुका उदय नहीं होता तब तक राग द्वेषकी वृत्ति चलती है।

२१९—आत्माका दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मामें ही है न तो विषयोंमें है, न शरीमें है और न कर्मोंमें है, अतः इस अचेतन पदार्थोंके संग्रह विग्रहसे आत्माका सुधार विगाड़ नहीं होता, फिर क्यों अन्य पदार्थों की ओर आकर्षण हो। यदि आत्माका गुण इन अचेतनोंमें होता तो इन अचेतनोंके घातसे आत्माका अथवा दर्शन ज्ञान चारित्रका घात हो जाता व दर्शन ज्ञान चारित्रके घात होनेपर पुद्गल द्रव्यका घात हो जाता। किन्तु, ऐसा है तो नहीं। इससे यह सिद्ध है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र अचेतनोंमें नहीं है। जैसे कि दीपक दीपघटमें नहीं है। यदि दीपक दीपघट में होता तो दीपके बुझ जानेपर दीपघट फूट जाता व दीपघटके दरकने पर दीपक दरक जाता। किन्तु, ऐसा हैं तो नहीं। इससे यह सिद्ध है कि दीप दीपघटमें नहीं है। इसी प्रकार राग द्वेप भी जो कि चारित्र गुणके विकार हैं, अचेतन पदार्थोंमें नहीं पाये जाते हैं। साथ ही यह भी बात है कि राग द्वेष सम्यग्दृष्टिके (या सम्यक्त्व परिणमनके) होते नहीं हैं, तो इस प्रकार यही प्रतीत हुआ कि सम्यग्दृष्टिके राग द्वेष नहीं होते।

२२०—राग द्वेपादिकोंको कर्म अथवा आश्रयभूत अन्य पदार्थ उत्पन्न कर ही नहीं सकते। क्योंकि, यद्यपि राग द्वेषादि आत्माके स्वभाव नहीं सो स्वयं नहीं होते तथापि कर्मदशाका निमित्त पाकर आत्माके ही गुणोंका तो विकार बनता है सो जीवके हुआ करते। कर्मोदय तो निमित्त मात्र है। सभी द्रव्य अपनी अपनी शक्तियोके परिणमनसे उत्पन्न होते हैं।

अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके गुणोंका उत्पाद नहीं कर सकता। जैसे कि मिट्टी जो कुम्भभावसे याने घड़ेके परिणमनसे उत्पन्न होती है अर्थात् परिणमती है। वह मिट्टीके स्वभावसे ही याने मिट्टीकी शक्तिके परिणमन से ही उत्पन्न होती है, कुम्भकारके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि यदि वह मिट्टी कुम्भकारके स्वभावसे उत्पन्न होती तो कुम्हार पुरुषके शरीरके आकार घड़ा बनता सो ऐसा तो है नहीं और मिट्टीके गुण धर्म घड़ेमें पाये जाते हैं, अतः कुम्हारके स्वभावको न छूती हुई मिट्टी ही कुम्भभावसे उत्पन्न होती है यही सिद्ध है। इसी प्रकार सभी द्रव्य अपने अपने परिणमनसे पर्यायरूपसे उत्पन्न होते हैं, निमित्तभूत अन्य द्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होते। आत्मा भी अपने गुण-परिणमनसे पर्यायरूप से उत्पन्न होता है अर्थात रागादि पर्यायरूपमें परिणमता है वह निमित्त-भूत अन्य द्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होता। अतः जब रागादिक भावों के उत्पादक पर द्रव्य हैं ही नहीं तब किस प्रकार द्रव्यकी ओर आकर्षित होना या क्रोध करना, किसीकी ओर नहीं।

२२१—निन्दा या स्तुतिके वचन भी क्या हैं? विशिष्ट पुद्गलवर्गणा (भाषावर्गणा) के परिणमन हैं। ये शब्द जीवको जबर्दस्ती नहीं करते हैं कि तुम हमको सुनो और न जीव अपने स्थानसे च्युत होकर उनको जाननेके लिये जाता है। इसका कारण यह है कि किसी भी वस्तुका भाव किसी अन्य द्रव्यके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जैसे कि प्रकाशमान दीपकको निमित्त पाकर प्रकाशित हुए घट पटादिक पदार्थोंने न तो दीपकको जबर्दस्ती की कि तुम हमको प्रकाशित करो और न दीपक अपने स्थानसे च्युत होकर घट पटादिक पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिये जाता है। इसका भी कारण यह है कि पर पदार्थ अन्य पर पदार्थको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है।

२२२—इसी प्रकार जैसे कि दीपकको घटादि पदार्थ जबर्दस्ती नहीं करते कि हमें प्रकाशित करो और न दीपक अपने स्थानसे च्युत होकर पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिये जाता है। उसी प्रकार रूप, रस, गंध,

स्पर्श आत्मापर जबर्दस्ती नहीं करते कि तुम हमें देखो, स्वादो, सूंघो, छुवो और न आत्मा अपने स्थानसे च्युत होकर रूपादिका विषय करनेके लिये जाता है। इसी तरह गुण, द्रव्य आदि भी आत्मापर जबर्दस्ती करते हैं कि,तुम हमें जानो और न आत्मा अपने स्थानसे च्युत होकर गुण, द्रव्यादिको जाननेके लिये जाता है।

२२३—जब ऐसा स्वरूप है तब जैसे घट पटादि पदार्थोंके प्रकाशित हो जानेसे दीपकमें विकार पैदा नहीं होता कि कहीं काले घटके प्रकाशित हो जानेसे दीपक काला हो जाय या तिखूंटी तिपाईके प्रकाशित हो जानेसे दीपक तिखूंटा हो जाय आदि। इसी प्रकार मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषयोंके ज्ञेय हो जानेसे आत्माको (ज्ञानको) विकृत नहीं हो जाना चाहिये कि कुछ विषयोंके ज्ञेय होनेसे आत्मामें हर्ष उत्पन्न हो और कुछ विषयोंके ज्ञेय होनेसे आत्मामें विषाद उत्पन्न हो आदि। तो भी राग द्वेष होते हैं, इसका कारण अज्ञान ही कहा जा सकता है।

२२४—चेतनाके विकास तीन प्रकारसे होते हैं-(१) ज्ञानचेतना, (२) कर्मचेतना, (३) कर्मफलचेतना। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य तरङ्गोंको करने व भोगने रूप न चेते किन्तु स्वभावको ही चेते वह तो ज्ञानचेतना है और ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कर्मोंको मैं करता हूँ, ऐसा चेते वह कर्मचेतना तथा कर्मोंके फलोंको मैं भोगता हूं, ऐसा चेते वह कर्मफलचेतना है। ज्ञानी जीव कर्मचेतनाका बहिष्कार करता है। यदि कोई क्रिया हो तो उसका ज्ञाता रहता है। ज्ञानी जीव कर्मफलके भोगनेका बहिष्कार करता है, यदि कोई कर्मफल आवे तो उसका ज्ञाता रहता है। ज्ञानी जीवके तब विचार उठे तो ऐसा उठता है कि ये कर्मफल मेरे भोगे बिना ही गल जावो। जैसे विषवृक्षके फलोंके खानेका परिणाम घातक हैं, वैसे ही इन कर्मोंके फलोंके भोगका परिणाम घातक है।

२२५—जिस ज्ञानका संचेतन ज्ञानचेतना है वह ज्ञान आत्मस्वरूप है अथवा आत्मा ही है अन्य कुछ चाहे वह शब्द, रूप, शास्त्र, आकाश, रागादिभाव आदि कुछ हो, ज्ञान नहीं है। अतः वास्तवमें ज्ञानकी अभेद

उपासना ही मुक्तिका कारण है। यद्यपि ज्ञानोपासनामें उद्यत जीवोंके देहका लिङ्ग (चिह्न) निरारम्भ निष्परिग्रहका हो जाता है तो भी देहका लिङ्ग मोक्षका कारण नहीं है। जो लोग देहके लिङ्गसे ही मुक्ति माननेके कारण इस ही व्यवहारमें मुग्ध हो जाते हैं वे परमार्थका उपयोग नहीं कर सकते। जैसे किसी कुशल व्यापारीका धान्य खरीदनेका व्यापार देखकर कोई ऊपरी रंग ढगकी चीजमें सारका विश्वास रख धान्य जैसे रूप रंगका धान्यका छिलका उस भावमें खरीद लेता है तो चांवलको तो नहीं प्राप्त कर सकता।

इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व अर्थात् समयसारका यथार्थ स्वरूप जानकर उसके उपयोगमें रहना निर्विकार होनेका, शान्त व आनन्दमई होनेका उपाय है। इस ही के परिणाममें यह सर्वज्ञाता व सर्वदर्शी हो जाता है। इस पदमें सबका पूर्ण एक स्वरूप रहता है।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ नमः सहज सिद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि। ॐ तत् सत्।

ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः।

इति सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार समाप्त

रोशनलाल शर्मा के प्रबन्ध से मोहन प्रिन्टिङ्ग प्रेस, मेरठ में छपी।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

की

प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य